प्रधान–सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुंद लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

उन्मीलन

*मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक*

वर्ष 25, अंक 1
जनवरी, 2011

वर्ष 25 अंक 1 जनवरी, 2011

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

प्रधान-सम्पादक

यशदेव शल्य

मुकुन्द लाठ

सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा

प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान

जयपुर

परामर्शदाता

1. गोविन्दचन्द्र पांडे, एम 2/4, विश्वविद्यालय परिसर, विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन–456010
2. रमेशचन्द्र शाह, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
3. अशोक वाजपेयी, सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–96

प्रधान-सम्पादक

1. **यशदेव शल्य**, पी–51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015, दूरभाष 2707493
2. मुकुन्द लाठ, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302006 दूरभाष 2294727/2293725

सम्पादक

1. अम्बिकादत्त शर्मा, सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498
2. प्रदीप कुमार खरे, आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Print)

वार्षिक शुल्क

व्यक्तिगत : रु. 50/–
संस्थाएं : रु. 100/–

आजीवन शुल्क

व्यक्तिगत : रु. 1000/–
संस्थाएं : रु. 5000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

यशदेव शल्य, मुकुंद लाठ एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

अनुक्रमणिका

1.	साहित्य से मुझे क्या मिलता है?	*मुकुन्द लाठ*	1
2.	अद्वैत वेदांत में द्वैत का स्वरूप एवं उसका निरास	*सभाजीत मिश्र*	27
3.	भारतीय व्याख्या–पद्धति की रूपरेखा	*अम्बिकादत्त शर्मा*	40
4.	हुस्सर्लीय फिनोमिनोलॉजी : द्वितीय कॉपरनिकसीय क्रान्ति	*संजय कुमार शुक्ला*	63
5.	भारतीय धर्म दृष्टि : आस्थाप्रणाली अथवा औचित्य प्रणाली	*दीपकुमार त्रिवेदी*	83

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है? क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

साहित्य से मुझे क्या मिलता है?

मुकुन्द लाठ

साहित्य का स्वरूप और अर्थ क्या? यह प्रश्न स्वाभाविक है। पर प्रश्न को अकसर यों भी रखा जाता है जैसा कि यहाँ शीर्षक में है। इस प्रश्न में 'मुझे' पर बल दें, जैसा कि दिया भी जाता है, तो प्रश्न बेढब सा हो जा सकता है–क्योंकि 'मिलने' का तात्पर्य फिर बड़ा स्थूल, स्वार्थ पर 'लाभ' ध्वनित होता जान पड़ता है। पर, कहना न होगा, प्रश्न किसी किताब बेचनेवाले से नहीं किया जा रहा है, साहित्य में स्वेच्छा–संकल्प से रूचि लेने वाले पाठक से किया जा रहा है। ऐसा है तो प्रश्न में उपादेयता की गंध होनी ही नहीं चाहिए, क्योंकि वैसा कुछ 'मिलने' की यहाँ बात ही नहीं जिससे कोई लोकैषणा पूरी हो – धन, यश, ऐश्वर्य। लेकिन प्रश्न यों ही किया जाये तो फिर वैसा ही अटपटा लग सकता है जैसे – प्रेम करने में तुम्हें क्या मिलता है? या, सत्य से तुम्हें क्या मिलता है? आठ सौ साल पहले आचार्य मम्मट ने भी प्रश्न को कुछ यों ही रखा था : पूछा था, काव्य (साहित्य) का प्रयोजन क्या? 'प्रयोजन' यहाँ 'उपादेयता' का ही पर्याय जैसा है। उनके उत्तरों में भी प्रयोजन की स्थूल उपादेयता झलक आती है। एक उत्तर है ही कि साहित्य से (लेखक को) अर्थ (धन) मिलता है। पर सब जानते हैं कि मम्मट ने जिसे साहित्य का परम प्रयोजन कहा है, उसे उपादेयता की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। वह प्रयोजन है, रस। रस को अपने आप में सार्थक – पुराने शब्दों में 'पुरुषार्थ' – कहा जा सकता है। वैसा ही पुरुषार्थ जैसा कि मोक्ष या भक्ति– तभी रस को ब्रह्मानन्द–सहोदर कहना प्रशस्त बनता है।

'रस' के अर्थ में कुछ उतरना यहाँ काम का हो सकता है। साहित्य से क्या मिलता है, इस प्रश्न का एक सहज, निःस्वार्थ उत्तर यह तो हो ही सकता है कि हम साहित्य से 'आनन्द' या 'मनोरंजन' पाते हैं। हाँ, साहित्य को यहाँ पढ़ने तक सीमित रखने से बात फिर नहीं बनेगी, क्योंकि नाटक और फ़िल्म भी साहित्य की कोटि में आने चाहिए। 'साहित्य' का पुराना अर्थ भी नाटक तक व्यापृत था ही – नाटक को 'दृश्य' काव्य कहा जाता था। फ़िल्म

को नाटक का ही नया विस्तार कहा जा सकता है। यों देखें तो साफ़ दिखने लगता है कि साहित्य की ओर लोग मनोरंजन के लिये झुकते ही हैं। 'रस' को इस मनोरंजन के स्वरूप को समझने–समझाने का एक सिद्धांत कहा जा सकता है। स्पष्ट ही 'मनोरंजन' में 'मन' पर ज़ोर है, इन्द्रियों पर नहीं– इन्द्रिय–रंजन नहीं, मनो–रंजन करता है। पर मनोरंजन तो शतरंज भी करता है, क्रिकेट का देखना भी करता है, फिर साहित्य में विलक्षण क्या? बात यहाँ भाव या भावना पर आ जाती है–मनोरंजन को यहाँ भाव–रंजन के रूप में देखा–समझा जा सकता है। हम साधारण तौर पर अपनी भावनाओं के साथ बहते हैं–उनके बस में होते हैं, उनसे 'रंजित' तो नहीं ही होते। साहित्य में हम भावनाओं में रहते–बहते हुए भी उनसे अलग, तटस्थ हो पाते हैं, उनके द्रष्टा। तभी उनका उपभोग कर पाते हैं–उनसे रंजित होते हैं। यह काम साहित्य ही कर सकता है। यों साहित्य हमारी भावानुभूति में निहित रस को, भाव–स्पंद के आनंद को, हमारे भाव–मन पर प्रकट कर देता है। यही उसकी विलक्षणता है। और यही वह बात है जो हमें साहित्य की ओर ले जाती है। रस सिद्धांत का ऐसा ही कुछ अभिप्राय उभरता है।

पर यों रस को रंजन मात्र तक सीमित रखें तो क्या बात सचमुच स्वार्थ और लोकैषणा से ऊपर उठ पाती है? रंजन और स्वार्थ का संबंध घनिष्ठ है– चोली दामन का सा साथ है। हम आम तौर पर स्वार्थ की सिद्धि भोग या रंजन में ही देखते हैं। पर रस को किसी अर्थ में रंजन का पर्याय रखते हुए भी रसवादियों में यह गहरा बोध था कि रस भोग मात्र नहीं है, हमारी ऊर्ध्वतर एषणा से संबंध रखता है। तभी रस को ब्रह्मानन्द – या रसो वै सः–जैसे वेदांत–वाक्य से जोड़ते हुए रस का एक रंजन मात्र से गहरा, उदात्त तात्पर्य भी उभारा गया है। इस तात्पर्य को दर्शन या दृष्टि–भेद के साथ भिन्न परिप्रेक्ष्यों से उभारा जा सकता है। पर लक्ष्य यह दिखाना ठहरता है कि साहित्य रंजन मात्र नहीं है, हमें हमारे सच्चे अंतरतम स्वरूप का साक्षात्, अनुभूत संकेत भी देता है। रसवादियों में अभिनवगुप्त प्रमुख हैं। कह सकते हैं कि अभिनवगुप्त के लिये नाट्य आत्म और जगत् के गूढतम तत्त्व–स्वरूप को साक्षात् अनुभूति–पर–प्रकट–कर–देता साक्ष्य था। हमारा आत्म परम शिव–स्वरूप है। पर यह स्वरूप हमसे ओझल रहता है – क्योंकि हमारा शिवत्व आंशिक है, नितांत असंपूर्ण और उपहत है। हम अपने को जगत् में पाते हैं, जगत् को अपने से अलग रखते हैं, और अपने को उससे पराया ही

नहीं, उसमें लिप्त, फँसा–हुआ पाते हैं। तभी उसमें होते हुए अपने को अपने वास्तव होने से – अपने शिव स्वरूप से – अलग, विच्छिन्न पाते हैं; सीमित, पराहत पाते हैं, दुःख–क्लेश भोगते हैं। पर वास्तव में जगत् शिव से अभिन्न है, शिव का ही स्वतन्त्र शक्तिस्पंद है। या शिव–स्वरूप का सहज विस्तार कहिये। हम स्वरूप से शिव हैं तो जगत् वास्तव में हमारे ही विशुद्ध चित् और आनंद स्वरूप का स्वभाव–प्रसार है। साहित्य का रस–बोध हमें इस सत्य का भान दे सकता है। साहित्य हमारी स्वतंत्र सृष्टि होता है और एक अपना सा जगत् बुनता है जो हमारी ही कल्पना का प्रसार होता है, और इस बात का बोध हममें उजागर रहता है। यों नाटक को हमारे वास्तव शिव–स्वरूप और उस स्वरूप में 'विश्राम' करते जगत् के अनुभूत दृष्टांत के रूप में समझा जा सकता है। अभिनवगुप्त नाटक को सामने रखते हुए यह बात कहते भी जान पड़ते हैं : नाटक में हमारी कल्पना सचमुच ही एक जगत् के रूप में बाहर–कुछ–घटता–सा संसार सृष्ट करती है, जो हमारा ही – हमारी कल्पना का – बाहर रूपायण कहा जा सकता है। नाटक के जगत् को हम अपने ही भीतर से उभरता देख सकते हैं, तभी इसमें तन्मय होते हुए इसमें डूब कर इसका आनन्द भी लेते हैं। हम अनुभव करते हैं कि यह कल्पना का जगत् हमीं में विश्राम करता है – जैसे कि जगत् शिव में करता है; यह हमसे अभिन्न है, हमारा ही फैलाव है। यों साहित्य में हम अपने शिव–स्वरूप की प्रतीति का जाग्रत–सा बोध कर सकते हैं।

पर हमारा नाट्य या साहित्य–सृष्ट जगत् वह जगत् नहीं जिसे हम जगत् के रूप में जानते हैं। नाट्य–जगत् हमारा सृष्ट जगत् है, हममें विश्राम करता है। यह शिव–सृष्ट जगत् नहीं है जो शिव से अभिन्न है, शिव में विश्राम करता है। पर हमारा अपना सृष्ट जगत् और उसकी हममें विश्रांति शिव में जगत् के निहित, 'विश्रांत', होने की समर्थ, जीवंत सूचना देती है, हमारे लिए हमारे ही शिवत्व की सार्थक निदर्श बन सकती है। हमारा सृष्ट नाट्य या साहित्य–जगत् सचमुच हमारा है–वह 'वास्तव' बाह्य जगत् से सर्वथा भिन्न है– यह बात हमारे द्वारा सृष्ट नाट्य–जगत् के 'होने' को–उसकी सत्ता को–ही दूसरी वस्तुओं से अलग, विलक्षण ठहरा देती है। नाट्य–जगत् को होने–नहीं होने की साधारण कोटियों में नहीं रखा जा सकता। इसी आशय से अभिनव नाट्य को–और साहित्य को मानस–नाट्य कहते हुए, उसे भी–'होने' की एक अनन्य–सत्ता देते हैं। कहते हैं कि नाट्य

लौकिक पदार्थों से अलग–व्यतिरिक्त–है : उसमें 'कुछ है' का अध्यवसाय ही नहीं होता; न उसमें किसी लौकिक पदार्थ का अनुकरण, प्रतिबिम्ब, चित्र–जैसा सादृश्य या आरोप देखा जाता है; न वह स्वप्न, माया या इन्द्रजाल जैसा कुछ होता है, या 'मानो है', ऐसी उत्प्रेक्षा जैसा कुछ। इसीलिये नाट्य के ज्ञान को–उसके बोध को–भी (किसा वस्तु का) यथायथ ज्ञान, भ्रांति, संशय, अनवधारण (क्या है, यह ठीक से समझ न पाना), 'कुछ है ही नहीं' ऐसा बोध–इनमें किसी कोटि में नहीं रखा जा सकता। उसका स्वरूप जिसे हम ज्ञान कहते हैं, (जिसमें ऊपर की कोटियाँ आती हैं) उससे भिन्न है–वह संवेदना द्वारा संवेद्य वस्तु है, जैसे किसी कहानी का (वृत्तांत का) आस्वाद हो, जो स्वभाव से ही रस–स्वरूप होता है।

यह बात अभिनव नाट्यशास्त्र की अपनी व्याख्या के आरंभ में ही कहते हैं।[1] साहित्य–सृष्ट जगत् के अनन्यभाव का यह बड़ा गहरा, अंतर्दृष्टि–सम्पन्न विवेचन है–कलाकृति मात्र की जगत् में उपलब्ध–प्रदत्त अन्य वस्तुओं से विलक्षणता की पैनी मीमांसा करता है। पर इससे यह उभरता भी लग सकता है कि साहित्य का जगत् हमारी आकांक्षा का जगत् होता है जिसका हमारे आठ पहर के जीने से, हमारे ठोस, क्लिष्ट व्यवहार–जगत् से कोई संबंध नहीं। साहित्य का जगत् हमारी चाह का, मनोवांछा–पूर्ति का जगत् है, जिसे हम अपने साधारण जीवन से भागने के लिये गढ़ते हैं। पर अभिनव के यहाँ बात ऐसी नहीं है–हममें आकांक्षा ही नहीं आदर्श भी हैं। हमारा सृष्ट जगत् हमारी आकांक्षा का ही नहीं, हमारे आदर्श का भी जगत् होता है–हमारा धर्म–बोध–औचित्यबोध–इसमें अनुस्यूत रहता है। यहाँ अभिनव का आशय नाट्य–जगत् की विलक्षणता को दिखाना ही है–यह दिखाना कि नाट्य–जगत् को परिचित जगत् की नकल या प्रतिबिंब या छाया कहना ठीक नहीं, वह एक स्वतंत्र जगत् है, हमारी अपनी जगत्–सृष्टि है, तभी उसमें हम अपने को पाते हैं, संवेदना और आदर्श–नद्ध आत्मबोध के साथ उसमें रमते हैं। भरत ने नाट्य को लोक का अनुकरण कहा है। अभिनव कहना चाह रहे हैं कि नाट्य–जगत् व्यवहार–जगत् का नकल जैसा अनुकरण नहीं है, स्वतंत्र है, पर ऐसा भी नहीं कि उसका व्यवहार–जगत् से कोई संबंध नहीं है। पर यह संबंध नकल का नहीं है–लोक–व्यवहार–जगत्–को उपकरण बना कर नाट्य एक अपना ही संवेदना–सृष्ट जगत् रचता है। वे नाट्य–सृष्ट जगत् को एक अनुव्यवसाय विशेष के रूप में देखते हैं–(उनकी यह चर्चा पिछली चर्चा से कुछ आगे चल कर रूप लेती है)।

क्या है यह अनुव्यवसाय–विशेष? कैसा है? क्या करता है? 'अनुव्यवसाय' शब्द न्याय–दर्शन में अकसर प्रयुक्त होता है। यह एक पीछे हटती दृष्टि है–इसे ज्ञान का ज्ञान कह सकते हैं : मैं कुछ जानता हूँ, यह ज्ञान है। मैं कुछ जानने के जानने को भी जानता हूँ, यह अनुव्यवसाय है। यह ज्ञान का ज्ञान में दोहराव है और इस दोहराव की गिनती बढ़ती चली जा सकती है–मैं कुछ जानने के जानने के जानने... को जानता हूँ। इससे ज्ञान में कुछ नया नहीं जुड़ता, उसमें कोई नई बात नहीं आती–हाँ, यह कह सकते हैं कि पहले ज्ञान में संशय की संभावना बनती है–क्या सचमुच जान रहा हूँ या नहीं? अनुव्यवसाय में यह मिट जा सकती है। परन्तु अभिनव के लिये अनुव्यवसाय ऐसी सपाट सी धारणा नहीं है। उनके लिये अनुव्यवसाय में सृजन–योजना बड़ी मूलगामी, आधारगत तत्त्व है। यह तत्त्व शैव–दर्शन की अनुव्यवसाय–विषयक धारणा से उन्हें मिला था। उत्पलदेव अपने प्रत्यभिज्ञा दर्शन में इस शब्द का प्रयोग उस ज्ञान के लिये करते हैं जो इन्द्रिय–लब्ध विच्छिन्न और अर्थ–हीन बोध–सामग्री को संबंधों के एक अंतःसूत्र में पिरोता है, उसे वस्तुत्व और सार्थक योजना देता है। यह बात बौद्धों के विपरीत कही गई थी जो निर्विकल्प (शब्द या भाषा से अछूते) विशुद्ध इन्द्रिय–लब्ध बोध को ही स्वलक्षण (अपने आप में) सत्य से संबद्ध मानते थे और उसके आधार पर बनते हमारे योजना–बद्ध जगत् को विकल्प या भाषा द्वारा गढ़ी गई मिथ्या–कल्पना। कश्मीरी शैवों के लिये जगत् मिथ्या नहीं, सत्य है, क्योंकि शिव में स्थित है, और हम जगत्–द्रष्टा के रूप में शिव के ही आंशिक रूप हैं। तभी हमारा जगत् का बोध भी आंशिक, सीमित, सव्यवहित रूप से होता है, जिसका एक फल यह है कि हमारे बोध में निर्विकल्प और सविकल्प के स्तर बँटे होते हैं–पर ये बौद्धों के स्वलक्षण और विकल्प की तरह सत्य और मिथ्या में परस्पर विपरीत और विच्छिन्न नहीं हैं, बल्कि सत्य के ही अधिकाधिक प्रकाश में उभरते स्तर हैं। यों कश्मीर शैव विकल्प को अनुव्यवसाय कहते हुए उसे भी सत्य मानते थे, मूक–निर्बोध से निर्विकल्प का ही विकल्प की व्यवस्था में उभरता स्फुटतर रूप। ऐसा ही अभिनव की व्याख्या में प्रकट होता है। (कुतूहली पाठक देखें, ईश्वर–प्रत्यभिज्ञा–विमर्शिनी,2,2,3)।

जब नाट्य को अभिनव अनुव्यवसाय विशेष कहते हैं तो यह विशेषता क्या? इसकी विशेषता इसके हमारी संवेदनामयी कल्पना द्वारा सृजित होने में है। इस सृजन का उपादान या उपकरण व्यवहार के आठ–पहरी जगत्

को कह सकते हैं–इस अर्थ में इसे लोक का अनुकरण या अनुकीर्तन भी कहा जा सकता है। पर इसी अर्थ में। क्योंकि अपने स्वरूप और मर्म में नाटक का जगत् हमारी स्वतंत्र कृति होता है। इसके कल्पनामय होने का एक लक्षण है इसमें अध्यवसाय का अभाव–इस बोध का अभाव कि देश–काल में सचमुच कुछ हो रहा है, जिसका किसी वास्तव घटना के रूप में बोध हो। तभी यहाँ सम्यक् (हो रहा है), मिथ्या (नहीं हो रहा), संशय (यह दुविधा कि हो रहा है या नहीं हो रहा), या संभावना (शायद हो रहा है) जैसी ज्ञान–वृत्तियाँ मौन रहती हैं। फिर भी नाटक जब तक चलता है, नाटक के होने का–उसमें जो घटित हो रहा है उसके 'होने' का–एक विलक्षण अध्यवसाय होता रहता है जो साधारण अध्यवसाय से सर्वथा भिन्न होता है। नाटक एक अपना जगत् बुनता है जिसमें हम तन्मय हो जाते हैं। हम इस जगत् के पात्रों से एकात्म हो कर, उनकी आँखों से जगत् को देखते हैं और उनके आदर्शों से प्रेरित होते हैं। यहाँ अभिनव राम–चरित का उदाहरण लेते हैं, पर हम बात को व्यापक पटल दे सकते हैं; बल्कि और भी आगे बढ़ कर कह सकते हैं कि हमारे कथा–बोध की संवेदना ही नैतिकता या औचित्यबोध में बसी होती है। पर अभिनव राम जैसे उदात्त नायक को सामने रखते हुए उनके नृत्त–गीतमय मंच–प्रस्तुत चरित के आधार पर कहते हैं : 'यह (औचित्य)–बोध दर्शक की चेतना से एकाकार होता है; चेतना–विशेष को रंगता हुआ (यह बोध) प्राण–प्रिया प्रेयसी के समान रसास्वाद में सराबोर करता हआ हृदय में ऐसा चुभ जाता है कि वहाँ से निकाला नहीं जा सकता, मुरझा नहीं सकता–चित्त सहज ही शुभ के ग्रहण और अशुभ के त्याग की उन्मुखता से बँध जाता है।' आगे नाट्य–रूप अनुव्यवसाय के रूप को और स्फुट करते हुए अभिनव कहते हैं : 'नाट्य–प्रयोक्ता द्वारा दिखाई जाती सामग्री–योजना एक विशेष अनुव्यवसाय (योजना–बोध) को जन्म देती है जिसमें रंजक–सामग्री के बीच अनुप्रविष्ट हो कर नट का अपना स्वरूप तिरोहित हो जाता है; दर्शक का पहले से बना लौकिक प्रत्यक्ष, अनुमान आदि का संस्कार बना रहता है, पर इस संस्कार के साथ सहृदय (संवेदना) का संस्कार आ जुड़ता है; प्रस्तुत नाट्य का हृदय के साथ संवाद (हृदय को) उसमें तन्मय कर देता है–इन सारे सम्मिलित कारणों से जो अनुव्यवसाय (विशेष) जागता है वह संवित् आनंद और प्रकाश का संपुट होता है, (जिस प्रकाश) में सुख–दुख आदि रूप चित्तवृत्तियाँ भी रहती हैं। इस तरह जो

विचित्र वस्तु आभासित होती है उसे 'रसन', 'आस्वादन', 'चमत्कार', 'चर्वण', 'निर्वेश', 'भोग', आदि शब्दों द्वारा अभिहित किया जा सकता है–वही नाट्य है। 'अभिनव कह चुके हैं कि नाट्य को वस्तुओं की साधारण कोटियों में नहीं रखा जा सकता है, न उसके ज्ञान को ज्ञान के साधारण रूपों में बाँधा जा सकता है। तो फिर इस 'वस्तु' का क्या दार्शनिक लक्षण किया जा सकता है? अभिनव ऐसे लक्षण में रूचि नहीं रखते। फिर भी कुछ विकल्प सामने रखते हैं, पर यह कहते हुए कि वे इस मीमांसा में नहीं उलझना चाहते : '(नाट्य–रूप वस्तु को) ज्ञानाकार कहिये या सामान्यात्मक आरोपित–स्वरूप कहिये या तत्काल–निर्मित–रूप कहिये या और कुछ कहिये, इन दार्शनिक विचारों में मैं नहीं उतरना चाहता। मैं यहाँ यह दिखाने नहीं बैठा हूँ कि मुझे दर्शन में पैठ है–ऐसा करने से प्रस्तुत विषय में विघ्न ही उपस्थित होगा और सहृदयों को खेद पहुँचेगा।' फिर भी 'अनुव्यवसाय' शब्द भी दर्शन ही से लिया गया शब्द है, और विचार तो अपने आत्मबोध के लिये दर्शन की ओर अनायास ही मुड़ जाता है– विचार का आत्मबोध ही दर्शन का मार्ग है। अभिनव कहना यह चाहते हैं कि वे नाट्य को किस अर्थ में 'अनुव्यवसाय' कह रहे हैं, यह उन्होंने सामने रख दिया है, इस अनुव्यवसाय में जो वस्तु (नाट्य) भासित होती है उसकी और गूढ़ तत्त्व–परक दार्शनिक पदावली में अति–मीमांसा वे आवश्यक नहीं समझते। अपनी बात का अंत यों करते हैं : 'यों, अनुव्यवसाय रूप कीर्तन (कथन, प्रस्तुति)–विकल्प–बोध–बिंधा–संवेदन–यही नाट्य है। क्योंकि ऐसे ही बोध से जाना जाता है। उसे अनुकरण कहना ठीक नहीं। पर उसे लौकिक उपकरणों के सहारे खड़ा किया जाता है, इसलिये उसे 'अनुकरण' भी कह दिया जाये तो इसमें दोष नहीं। वस्तु में भेद के उजागर रहते अगर शब्द–प्रयोग एक भी हो तो इसमें विवाद की कोई बात नहीं।'

हम देख चुके हैं कि अभिनव के लिये विकल्प–जगत् को भाषा के माध्यम से एक योजना के रूप में देखना–बौद्धों की तरह कल्पना या मिथ्या नहीं था। बल्कि उनके लिए साक्षात् इन्द्रिय–बोध में भी यह योजना–बोध अस्फुट रूप से जागता है–योजना जगत् में निहित है क्योंकि जगत् शिव–सृष्ट है, शिव से अभिन्न है। पर नाट्य हमारी संवेदना–प्राण कल्पना से सृष्ट विशेष योजना है, तभी वह प्रस्तुत जगत् से विलक्षण है, उसके 'होने' की कोटि ही अपने आप में अलग और स्वतंत्र है। पर हम उस स्व–सृष्ट

जगत् को अपने ही होने के प्रसार के रूप में देख सकते हैं और यह सार्थक कल्पना या उत्प्रेक्षा कर सकते हैं कि किस रूप में वास्तव जगत् शिव का स्वरूप–प्रसार है।

ऊपर हमने यह भी देखा कि इस संवेदना–सृष्ट और संवेदना–दृष्ट–कोटि को समझने के लिये अभिनव कहानी या कथा की बात करते हैं (कहते हैं कि नाट्य हमारी संवेदना द्वारा संवेद्य वस्तु है, जैसे किसी कहानी (वृत्तांत) का आस्वाद हो)। थोड़ी भी व्यापक दृष्टि से देखिये तो नाट्य को कथा का एक प्रकार कहा ही जा सकता है। इस कथा–जगत् के साथ हमारा संवाद अंतरंग होता है, इसमें हम अपने मनोनुकूल जगत्–बोध और आनंदमय मर्म का प्रकाश पाते हैं, तभी हमारा बोध इससे एकात्म हो जाता है और इसका संस्कार हम पर गहरा पड़ता है–इसमें निहित आदर्श हमें प्रेरणा दे पाते हैं। अभिनव यहाँ राम जैसे महत् चरित्र को प्रेरक के रूप में खड़ा करते हैं; पर नाटक या कथा का जो नायक हमें प्रेरणा देता है उसका इतना उदात्त होना आवश्यक नहीं है। हमारा औचित्य–बोध इस मामले में काफ़ी लचीला होता है–हमारा नायक चोर भी हो सकता है : ऐसा व्यक्ति जिसकी हम सराहना करें, जिसके चरित में तन्मय हों और जिसके चरित से यों परोक्षतः, संस्कारवश प्रेरित भी हों। हाँ, वह बिल्कुल पिशाच–प्रकृति का नहीं होना चाहिये। तब हममें जुगुप्सा या बीभत्स–भाव ही जगायेगा–पर भूलना नहीं चाहिये कि इस भाव का भी आधार हमारा औचित्य–बोध ही होता है।

अभिनव के विमर्श को हम साहित्य–विमर्श (या काव्य शब्द के व्यापक अर्थ में काव्य–विमर्श) कह सकते हैं, अगर साहित्य–या काव्य को–नाट्य और उससे आगे बढ़ते हुए कथा तक का भी दायरा दें। कविता पर बात पूरी उतरती नहीं दिखती, क्योंकि वहाँ किसी वृत्तांत या कहानी का होना आवश्यक नहीं। कथा में भी बात को ठीक वैसे पूरा नहीं उतारा जा सकता जैसे कि अभिनव उसे नाट्य पर उतारते हैं। कथा मंच पर दृश्य रूप से साक्षात् घटित नहीं होती – उसमें नृत्य–गीत का कोई स्थान नहीं होता, अभिनेता और उनकी प्रत्यक्ष चेष्टायें, हाव–भाव नहीं होते, दूसरे शब्दों में, वृत्तांत को यों नहीं खड़ा किया जाता मानो सामने घटित हो रहा हो, चाहे वास्तव न हो। अभिनव कथा को नाट्य की तरह प्रत्यक्ष न मानते हुए भी उसके मानस प्रत्यक्ष की बात करते हैं। पर यों कथा को मानस प्रत्यक्ष कहने का अर्थ क्या? 'मानस प्रत्यक्ष' शब्द यह कहता जान पड़ता है कि कथा में

वृत्तांत का चाक्षुष प्रत्यक्ष तो नहीं होता, पर वैसा ही सा मानस प्रत्यक्ष होता है—हम मन की आँखों से लिखे या कहे जा रहे वृत्तांत को उसी तरह, उसी रूप में, देखते हैं जैसे नाट्य देह की आँखों के आगे घटित होता दिखता है। पर हम क्या कथा पढ़ते हुए सचमुच आँखों के आगे कुछ (कल्पना में ही सही) घटित होता हुआ देखते हैं, जैसा कि नाट्य में देखते हैं? ऐसा तो कुछ होता नहीं दिखता। बल्कि सवाल यहाँ यह उठता है कि क्या ऐसा होना संभव भी है? कथा शब्दों में होती है और शब्दों के अर्थ सामान्य होते हैं। सामान्य की कोई छवि या प्रतिमा—कोई विशेषकृत दृश्य रूप – हमारी मानस आँखों के सामने प्रकट या उद्भूत नहीं होता। 'दुखी हरीश बड़े बेमन से पाँव उठाता हुआ कमरे से निकल गया' – ऐसा वाक्य किसी कहानी में आ सकता है – या यों भी किसी ऐसे व्यक्ति के वास्तव वृत्तांत में आ सकता है जिसे हमने कभी देखा नहीं। ऐसे वाक्य से हममें कुछ घटित होने का बोध और भाव जागता है, पर किसी भी रूप में उसे प्रत्यक्ष का नाम नहीं दिया जा सकता, मानस प्रत्यक्ष का भी नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष जैसी छवि यहाँ उभरती ही नहीं – कोई अस्पष्ट सी भी छवि नहीं उभरती, जैसे धुँधलके में आँखे कुछ नीहारमय देख रही हों। छवि उभरने का यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता—क्योंकि मानस आँख चक्षुरिन्द्रिय नहीं है, उसे दिखता कुछ नहीं है। बल्कि यो कहना ठीक होगा कि 'मानस की आँख' या 'मानस प्रत्यक्ष', ये लाक्षणिक प्रयोग हैं – इनसे यह धोखा नहीं खाना चाहिये कि शब्दों से जिस सामान्य का बोध होता है, वह छवि की तरह मन के आगे तैर आता है, चाहे बाहर आँखों को न दिखता हो। स्मृति में कभी मन की आँख को छवि जैसा कुछ दिखता हुआ सा बोध होता है, पर सामान्य का बोध ऐसा नहीं होता। सामान्य बोध में एक अपोह होता है – अन्यत्र से हट कर बोध एक दिशा विशेष ले लेता है, क्योंकि सामान्यों को घेर कर छोटा किया जा सकता है, पर उसे प्रत्यक्ष की तरह सामने दिखाया नहीं जा सकता। ऊपर के वाक्य में 'हरीश' को लीजिये—यह कोई भी पुरूष व्याक्ति हो सकता है ('पुरूष' इसलिये कह रहा हूँ कि उसके साथ 'चला गया' यह प्रयोग है)। हम उसके व्यक्ति—रूप को और घेर—कस दे सकते हैं, जैसा कि वृत्तांत कथन में अकसर होता ही है– हम उसका 'वर्णन' करते हुए कह सकते हैं कि वह गेहुँए रंग का, लंबा –चौड़ा, तीखे नाक—नक्श का व्यक्ति था। पर अर्थ अब भी सामान्य ही रहेगा; हाँ अपोह कुछ और अवच्छिन्न हो जायेगा—पर प्रत्यक्ष में नहीं बदल जायेगा। यों ही हम 'हरीश'

द्वारा अनुभूत दुख के हाव–भाव को और उसकी दुखी चाल के चलन को भी और विशेषित कर दे सकते हैं–'उसका मुँह लटक गया था, आँखें नम होने लगी थीं, पाँव बोझिल हो गये थे, जैसे बाँध दिये गये हों'। यों अपोह को और घेर कर संकरा कर दिया जा सकता है, पर अर्थ फिर भी सामान्य रहता है, कोई प्रत्यक्ष–जैसी छवि नहीं उभरती, जैसी कि नाटक में सायास उभारी जाती है। ऊपर के वाक्यों को अगर मंच पर अभिनय का रूप दिया जाये तो बात प्रत्यक्ष होती है–अभिनेता विशेष और अभिनय विशेष से और आनुषंगिक सामग्री की सहायता से ऐसा किया जा सकता है– हम कथाओं को नाटक रूप देते ही हैं।

अभिनव इस बात को जानते थे। नाट्य किसी वृत्तांत–कवि–लिखित (या अन्यथा कल्पित) किसी कथा या इतिवृत्त–को ही मंच पर प्रत्यक्ष रूप देता है। यहाँ बात किसी अनुकरण की नहीं होती, किसी सामान्य को विशेष रूप देने की होती है–ऐसा रूप जो उपयुक्त हो : इतिवृत्त को नाट्य की स्वायत्त व्यंजना में अनूदित कर सके। अभिनव राम–कथा का ही दृष्टांत सामने रखते हुए कहते हैं कि राम के अनुकरण की बात ही नहीं उठती, राम को किसने देखा है? फिर राम की चेष्टाओं के अनुकरण की बात तो निरर्थक हो जाती है। और राम के दुख जैसे आंतरिक भाव? इनके अनुकरण की बात तो सरासर बेमानी है, दुख जैसे अमूर्त के 'अनुकरण' का अर्थ ही क्या होगा? ऐसे भावों का कोई बाहर–दिखता सादृश्य ही नहीं होता जो अनुकरण का आधार हो सके–और नाट्य तो भाव–संयोजन से ही बनता है! दुख में–या किसी और भाव में–की जाती चेष्टायें और हाव–भाव होते हैं, पर ऐसी चेष्टाओं की एक जाति या सामान्य होता है, कैसी चेष्टा का नाट्य के संदर्भ–विशेष में प्रयोग हो, यह अभिनेता–प्रयोक्ता की संवेदना और कल्पना पर निर्भर करता है। यों नाट्य में सामान्य को विशेष चाक्षुष रूप अभिनय द्वारा देना पड़ता है। बात एक कल्पना या अभिनव के शब्दों में अनुव्यवसाय विशेष की होती है–स्पष्ट ही यहाँ सादृश्य या अनुकरण की बात वृथा है। नाटक यहाँ शब्द में की गई सामान्य कल्पना को नाटक का प्रत्यक्ष–दृष्ट रूप देता है–यह भी कल्पना–विशेष का ही काम है। अभिनव के अपने शब्द लीजिये। अभिनव कहते हैं : 'पर, चलिये, नाट्य को 'नियत' अनुकरण नहीं भी कहें तो भी 'अनुकरण' कहने में अपराध क्या? अपराध कुछ नहीं, सिवा इसके कि यह संभव ही नहीं। 'अनुकरण' का अर्थ है 'सदृश–करण'। पर

किसका? राम जैसों का तो हो ही नहीं सकता। राम जैसों ने जो किया उसका सदृश–करण तो किया ही नहीं जा सकता ! इससे यह भी आपादित हो जाता है कि जिन विभावों को (पात्रों और दृश्यों को) मंच पर प्रस्तुत किया जाता है, उन्हें 'अनुकरण' नहीं कहा जा सकता। फिर चित्तवृत्तियों का–जैसे शोक, क्रोध..... –इनका अनुकरण तो असंभव ही है। अभिनेता अपने शोक को 'राम–सदृश' नहीं बनाता है। अभिनेता में वैसा शोक हो ही नहीं सकता। अगर हो तो उसे 'अनुकृत शोक' नहीं कहा जा सकेगा। फिर ऐसी कोई और वस्तु नहीं जिसे 'शोक के सदृश' कहा जा सके। अभिनेता शोक का अभिनय करता है (शोक के अनुकूल अनुभावों का–चेष्टाओं का–प्रदर्शन करता है)। ये चेष्टायें सजातीय होती हैं (शोक की उन चेष्टाओं के अंतर्गत होती हैं जिन्हें शोक की सामान्य चेष्टायें कहा जा सकता है; ये किसी की चेष्टा के 'सदृश' चेष्टायें नहीं होती)। अब, जहाँ बात रूप–सामान्य की हो वहाँ किसी को किसी के 'सदृश' कहना ठीक नहीं।'

यों नाट्य में सामान्य को विशेष रूप दिया जाता है। अभिनेता शोक की चेष्टा–विशेष करता हुआ सामान्य को एक विशेष रूप देता है। अभिनेता का एक पात्र विशेष का रूप लेना भी सामान्य को विशेष रूप देना ही होता है–ऊपर के 'हरीश' को हम नाट्य का एक पात्र बना दें तो उसे एक विशेष रूप मिल ही जायेगा; उसकी चेष्टाओं को, उसके दुख को भी एक विशेष अभिव्यक्ति मिल जायेगी। नाटक मात्र को ही हम 'कथा या इतिवृत के सामान्य को एक विशेष रूप देना' कह सकते हैं। लेकिन यह विशेष फिर भी सामान्य से घिरा रहता है, क्योंकि उसी इतिवृत को कई सार्थक विशेष रूप दिये जा सकते हैं–चेष्टाओं को बदल कर,, अभिनेताओं को बदल कर–पूरे नाटक को ही नये अनुव्यवसाय–विशेष की कल्पना से नये रूप में ढाल कर। यों भी हम सामान्य–चेतना की व्यापकता में ही कथा के अर्थ का ग्रहण करते हैं। पर कथा में सामान्य बड़े अपरोक्ष–भाव से सामान्य ही रहता है। हमारी कल्पना सामान्यों के आधार पर ही कथा के सूत्र बुनती है – अपोह की सहायता से; पर अपोह यहाँ सामान्य के घेर में ही रहता है, किसी चाक्षुष विशेष से नहीं बंध जाता। हाँ, यह कह सकते हैं कि कथा की अपनी आंतरिक बनावट विशेष होती है। पर ऐसा एक दूसरे अंतरंग अर्थ में होता है : कथा में पिरोये गये अंतःसूत्र एक व्यूह या आवह विशेष की बनावट करते हैं। पूरी कथा अपने आप में–अपनी अंतःसंरचना–एक ऐसी विशेष होती है,

जैसी कि कोई भी कलाकृति होती है। तभी कलाकृति की तुलना व्यक्ति से की जा सकती है–जिसके व्यक्तित्व में अंतःसूत्रों का एक अनन्य गुंथाव होता है। कलाकृति और व्यक्ति, ये दोनों ही विशेष सामान्य अवयवों से बने विशेष अवयवी होते हैं। हम यह भी पाते हैं कि ये दोनों प्रकार के अवयवी संवेदना द्वारा ग्राह्य होते हैं–एक ऐसी संवेदना जो संपूर्ण का संश्लिष्ट ग्रहण करती है, अवयवी का ग्रहण करती हुई अवयवों को उसमें पिरोती है; यह विश्लेषण–करती बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं (चाहे अवयवी एकबारगी सामने प्रस्तुत न होता हो, जैसा कि कथा में, जहाँ अवयवी धीरे–धीरे ही खुलकर सामने आता है। वहाँ भी हम अवयवों को एक अवयवी–बोध में अनुस्यूत देखते चलते हैं, चाहे वास्तव अवयवी. का बोध ओझल रहता हो। किसी जीवित व्यक्ति के व्यक्तित्व का बोध भी इसी तरह अवयवी–ग्राह्य होता है, तभी हम उसकी किसी प्रवृति या कर्म के बारे में कहते हैं कि यह उसके व्यक्तित्व से मेल नहीं खाता। जगत् का बोध भी हमें अवयवी के रूप में ही होता है, हालांकि इस अवयवी का 'संपूर्ण' बोध संभव ही नहीं; 'संपूर्ण बोध' हम किसे कहेंगे, यही हम नहीं जानते)। पर, यहाँ यह नहीं भूलना चाहिये कि अवयवित्व का यह विशेष आंतरिक सूत्रों की बनावट से बना होता है–यह विशेष नाट्य के उस विशेषकरण से भिन्न होता है जहाँ कथा की सामान्य अभिव्यक्तियों को विशेष रूपों में परिकल्पित किया जाता है।

ऊपर मैंने अभिनव की अनुव्यवसाय की धारणा को इसलिये सामने रखा कि उसमें पैनी अंतदृष्टि है जिसे ऐसी कला मात्र पर सार्थक भाव से उतारा जा सकता है जो कला किसी रूप में लोक को, विशेषकर मनुष्य और उसके संसार को आलंबन बनाती है। उन्होंने बात नाटक के लिये कही है, पर बात कथा पर भी पूरी उतरती है, हालांकि कथा को मानस–प्रत्यक्ष कहना ठीक नहीं। कथा शब्दों में–और यों सामान्यों में–ही कही जाती है, कितनी ही विशेष की ओर झुके या झुकना चाहे। पर कथा का सामान्यों में होना कथा–बोध में न्यूनता नहीं लाता – अभिनव की बातों से लग सकता है कि वे नाट्य को कथा से ऊपर रखते थे, पर उसे नाट्य से निचला कहने में कोई सार नहीं। हमारा जगत्–बोध यों भी शब्द–विद्ध होता है, हम जगत् को सामान्यों में ही देखते हैं; हमारा इन्द्रियगम्य विशेष भी सामान्य के अंतर्गत ही विशेष होता है–नाम–रूप होता है, विशुद्ध विशेष हमारे लिये कुछ हो ही नहीं सकता–वह तो और भी विशुद्धतः एक शब्द–विद्ध धारणा है। यों भी

हमारा इन्द्रिय–जगत् हमारे व्यवहार का अंग होता है और हमारा व्यवहार शब्द–या भाषा–बिना अकल्पनीय है। हमारी कथा–प्रवृति का आलंबन हमारा व्यवहार ही है। इसीलिये कथा का सामान्यों में होना किसी न्यूनता का इंगित नहीं। उलटे कहा जा सकता है कि उसमें नाटक से अधिक व्यापकता की संभावना होती है। तभी कथा को नाटक में–या नाट्य की सहोदरा, फ़िल्म में–एकाधिक रूप दिया जा सकता है; पर विशेष रूप दे पाने का यह संभावना–बहुत्व यह भी दिखाता है कि कथा का अपना पटल सामान्य होने के साथ ही व्यापकतर, विपुलतर भी होता है, उसकी अपनी संभावना नाटक से कहीं विस्तृत और समृद्ध हो सकती है। उसके अंतःसूत्रों के अवयवों में जो व्यंजना वैभव संभव है, वह नाटक की सीमा को लांघती हुई अपनी पसारा फैलाती है। यहाँ अभिनव का पक्ष लेते हुए कहा जा सकता है कि नाट्य की तरह उसमें संगीत, नृत्य जैसी दूसरी कलाओं की शोभा, उनका उपरंजन नहीं संजोया जा सकता। पर यह तो एक तरह की मोहिनी ही है। अभिनव इसी–मनोरंजन में नाट्य की महिमा देखते हैं। इसी में डूबे हुए नैतिक आदर्श की हमारे संस्कारों में बस जाने की बात करते हैं। मानो आदर्श कडुवे–कसैले आँवले का चाशनी–बसा मुरब्बा हो।

हाँ, साहित्य की भी अपनी मोहिनी होती है। पुराने लोग–रसवादी आलंकारिक–वाक्य–रचना में अलंकार, गुण, रीति आदि को कथा के आस्वाद में वही स्थान देते थे जो नाट्य में गीत–नृत्य–आतोद्य को। पर पुराने रसवाद की नाट्य से और नाट्य के भरत–सम्मत रूप से कुछ ज़रूरत से ज्यादा आक्रांत थे। कथा में अलंकार आदि को ऊपर से जोड़ने की जरूरत नहीं होती– जैसा कि नाट्य गीत–संगीत–नृत्य–वाद्य को भरत की परंपरा में जोड़ा जाता था। कथा अपने आप में ही भी मोहिनी होती ही है–कथा में हम सहज ही रमते हैं। नाटक का भी आलंबन कथा ही होती है। कथा न हो तो नाटक के दूसरे रंजक तत्त्व, संगीत, नृत्य, नाटक का रूप नहीं लेंगे– और नाटक इनके बिना भी रूप ले सकता है। पर गीत, संगीत, नृत्य, आतोद्य, ये अपने आप में भी रंजक हो सकते हैं, ये स्वतन्त्र रंजन करने लगें तो फिर बात साहित्य की रहेगी ही नहीं, दृश्य साहित्य की भी नहीं। पर बात वास्तव में रंजन की है ही नहीं। कथा कई स्तर पर व्यापृत होती है–रंजन ही के स्तर पर नहीं। अभिनव की ऊपर की नाट्य–बोध–मीमांसा भी नाट्य को (और यो कथा को) रंजन–स्थानीय ही रखती है–रंजन की बात पर ज़ोर देने के

लिये वे रंजन के ढेर सारे पर्याय एकबारगी सामने रख देते हैं: वे नाट्य–बोध के लिये 'रसन', 'आस्वादन', 'चमत्कार', 'निर्वेश', 'भोग' जैसे शब्द एक साथ ला खड़े करते हैं। वे यह भी कहते हैं कि इस नाट्य–बोध का स्वरूप संवित्, आनंद और प्रकाश का संपुट होता है जिस में सुख–दुख–रूप चित्त–वृत्तियाँ खुभी रहती हैं। पर संवित् और प्रकाश तो ज्ञान मात्र में होता है (चाहे उसे अनुव्यवसाय का ही नाम दे दीजिये)– चित्तवृत्तियों के साहित्य–बाहर, साधारण ज्ञान में भी संवित् और प्रकाश तो होते ही हैं, वरना ज्ञान ही नहीं होगा। ऐसे ज्ञान के कारण हम चित्तवृत्तियों का वर्णन–विवेचन करते हैं। पर ऐसे ज्ञान को हम 'साहित्य' या नाट्य की कक्षा में नहीं रखते। नाट्य में कुछ विशेष है तो आनंद ही है जिसे 'रसन', 'भोग' आदि पर्यायों से जनाया गया है। बात रंजन पर ही आकर ठहरती दिखती है। यह रंजन कुछ सीख दे सकता है, वह कथा–बोध से जन्म नहीं लेता, वह हमारे आत्मचेतन स्वभाव का अंग है, वह हमारे कथा–बोध में भी काम करता रहता है, कथा–बोध उसका उत्स नहीं है, उसका उत्स हमारा आत्मचेतन स्वरूप है।

पर हमारा कथा–बोध रंजन के स्तर पर व्यापृत नहीं होता–हालाँकि उसकी ओर हम रंजन के लिये भी मुड़ते ही हैं। अपनी बात कहूँ तो मैं भी कहूँगा कि मैं रंजन–विशेष के लिये भी कथा–साहित्य का सेवन करता हूँ। मुझे जासूसी रहस्य–कथाओं में रूचि है, जिनमें एक कुतूहल–और –संशय–दिग्ध रोमांच चित्त में आवेग के साथ अपना रंग और रस जगाता है। पर इसे मैं साहित्य का 'मर्म' या 'आत्मा' नहीं कहना चाहूँगा।

रस, जिसे साहित्य की आत्मा कहा गया है, उसमें रंजन, आस्वाद या भोग के सिवा एक और मर्म की बात है, जो इस आस्वाद को विशेषित करती है, इसका 'कारण' होती है। इसे 'साधारणीकरण' कहा गया है। तात्पर्य यह कि नाटक (या कथा) में जिस भाव का बोध होता है वह एक विशेष आकार में उदित होता है–नाटक उसे वह विशेष रूप देता है। हममें जीवन के साधारण प्रवाह में जो भाव उठते जागते रहते हैं, हम जिन भावों के वश में रहते हैं, जिनके साथ बहते हैं उनके प्रभाव से प्रवृत्त होते हैं–उनसे तटस्थ रहते हुए उनके द्रष्टा नहीं हो पाते। नाटक में प्रस्तुत अनुव्यवसाय विशेष द्वारा मंच पर सृष्ट भाव हमें ताटस्थ्य प्रदान करते हैं। वहाँ हम भाव के द्रष्टा हो पाते हैं, उनके वश में नहीं रहते। तभी नाटक के भय से हम यों भीत नहीं होते कि भागने को विवश हों। नाटक के भय से भीत होते हुए भी हम वास्तव

में भीत नहीं होते, बल्कि उसके भाव–स्पंद का आनंद ले पाने में समर्थ हो जाते हैं। रसवादियों की शब्दों में, भाव यहाँ 'साधारणीकृत' होता है। अभिनव कहते हैं कि नाटक में अभिनीत भाव न नाट्य–लेखक का होता है, न नट का, न दर्शक का–वह किसी का नहीं होता, साधारणीकृत होता है, तभी उसका आस्वाद लिया जा सकता है। नाटक भाव को अपने अनुव्यवसाय द्वारा साधारण व्यवहार–जगत् से हटा कर और हमें भाव से ताटस्थ्य देता हुआ यह संभव करता है। अब, यहाँ दो–एक बातें सोचनें की हैं, जिन पर रसवादियों का ध्यान नहीं गया है। एक तो–जैसा कि शल्य जी ने कहा है–यह कहना ठीक नहीं कि कथा में भय जैसा भाव किसी का नहीं होता : भाव कथा के किसी चरित्र या पात्र का होता है, वरना होगा ही नहीं। दूसरी बात और भी गहरी मूलघाती है। भय का–या किसी भी भाव का–साधारणीकरण तो भय को 'भय' कहने में ही हो जाता है–भय को भय कहते हुए हम भय–सामान्य के तटस्थ द्रष्टा होते हैं, भीत नहीं होते। हमारा सारा वाक्–व्यवहार ही साधारणीकृत होता है। पर अभिनव को 'भय' कहने में भाव की अभिधा ही मानते थे, व्यंजना नहीं, और व्यंजित हुए बिना भाव रस की अवस्था को नहीं पहुँच सकता। तो 'साधारणीकरण' मात्र की बात से साहित्य–व्यापार समझ में नहीं आ सकता।

पर पुरानी रस–मीमांसा में एक और बात है जिसकी ओर ध्यान दीजिये। रसवादी भाव में रहते हुए ही भाव के रस हो जाने की बात करते हैं। इसका क्या तात्पर्य है? बात ताटस्थ्य और द्रष्टा–भाव की है। भाव में रहते हुए भी, उसमें तन्मय होते हुए भी उससे विलग रह कर उसे देख पाना : भाव की आँख से ही भाव को देख पाना। पुराने लोग जब साधारणीकरण की बात करते हैं, उनका आशय इसी द्रष्टा–भाव से होता है–द्रष्टा–भाव की दृष्टि में साधारणीकरण तो निहित होता ही है; भाषा हमारे द्रष्टा–भाव की वाहक है और भाषा के प्रयोग में ही सामान्य का बोध समाया रहता है, चाहे वह प्रयोग साधारण वाक्–व्यवहार में हो या साहित्य में। पर साहित्य में प्रयोग की दिशा अलग होती है। अभिनव जब नाट्य को अन्य–वस्तु–विलक्षण दिखाते हैं, तब एक आधारगत बात यह कहते हैं कि नाट्य में कुछ होने का अध्यवसाय नहीं होता–वास्तव कुछ हो रहा है, यह बोध नहीं होता। पर वहाँ संशय, भ्रम, मोह जैसा भी कुछ नहीं होता। होने को कुछ होने का बोध ही होता है, और हम जानते रहते हैं कि सार्थक कुछ हो रहा है, पर वह वास्तव

नहीं होता। लेकिन मिथ्या भी नहीं होता–न हमें होने के मोह में डाल–देता इन्द्रजाल या भ्रम होता है–जो कुछ होता है हमारे आगे प्रकट–पारदर्शी होता है। हम जानते रहते हैं कि यह नाटक है (या कथा); यह बोध हममें भीतर तक बैठा रहता है–तभी हमारी आलोचना–बुद्धि भी जागती रहती है। ऊपर नाट्य के संदर्भ में जिस अनुव्यवसाय–चर्चा से हमने कुछ उद्धरण लिये, वहाँ अभिनव यह भी कहते हैं (और ठीक ही कहते हैं) कि नाटक के पात्र में हमें 'यह अभिनेता', यह ज्ञान रहता है, हालांकि साथ ही तिरोहित भी रहता हो। अभिनव यह भी कहते हैं कि हममें साधारण–रूप से जागते हुए प्रत्यक्ष, अनुमान आदि के संस्कार भी नाट्य देखते हुए हमारी सहृदयता के संग–संग जागे रहते हैं, इन प्रमाण–संस्कारों को ऊह्य रखते हुए ही हम नाट्य के विलक्षण अनुव्यवसाय–निर्मित कल्पना–लोक में निमज्जित और तन्मय होते हैं।[2] इन बातों का आशय प्रकट है : नाटक देखते हुए हमारे द्रष्टा की प्रमाण वृत्ति जागती रहती है। हम कितने ही डूबे हों, 'बात बन रही है या नहीं', 'संगति बैठ रही है या नहीं, यह विवेक हममें जागता रहता है। पर हमारा विवेक क्या यहाँ ऐसी ही संगति का पारखी होता है कि बस यही देखता रहता है कि जिस कल्पना–लोक में हमारी संवेदना तन्मय है, उसके अंतःसूत्र, उसके अवयवों का मेल आस्वाद के योग्य बन रहा है या नहीं? वैसी ही प्रमाण–वृति जो भोजन के आस्वाद में भी जागती है! क्या हम साहित्य की ओर बस इसीलिये झुकते हैं कि रंजन का लाभ हो, और रंजन के परोसे जाने पर मन की रसना से यही जाँचते रहते हैं कि व्यंजन सही बना या नहीं? यह बात तो बिल्कुल नहीं जँचती। नाट्य और कथा–साहित्य अगर हमारी कल्पना का एक सार्थक अनुव्यवसाय है, हमारी प्रमाण–गर्भ सृष्टि है, और हमारे द्रष्टा–भाव की ओर उन्मुख है, तो वह निरे रंजन की बात नहीं हो सकती।

वह हमारे अनुभव के सत्य को हमारे आगे रखती है–उसे ऐसा रूप देते हुए कि हम अनुभव के भीतर, अनुभव के स्पंद में रहते हुए भी अनुभव को–अनुभव के अर्थ का–देख–परख सकें। 'अनुभव का अर्थ', इस बात को कहने के पीछे एक विशेष आशय है। साहित्य का माध्यम भाषा है, और हम देख चुके हैं कि भाषा सामान्य को अभिव्यक्त करती है। सामान्य अनुभव के विशेष को नहीं, उसके अर्थ को अभिव्यक्त करता है–किसी इन्द्रिय–गम्य कुछ को 'कुछ' कहते ही वह 'कुछ' सामान्य का रूप ले कर हमारे बोध की

सम्पत्ति हो जाता है; हम अब उसके स्वरूप पर विचार कर सकते हैं, वह क्या है, यह पूछ सकते हैं, देख–परख सकते हैं; अन्य 'कुछ' और कुछ–संभार से उस कुछ के संबंधों को भाँप–जाँच सकते हैं–शैव–दर्शन के शब्दों में 'कुछ' अब एक अनुव्यवसाय का–विचार की एक योजना का–अंग हो जाता है; अब हम उसके स्वरूप से लक्षित, ध्वनित, बृहत्तर और विराटतर तात्पर्यों में भी उतर सकते हैं : सोच सकते हैं कि 'कुछ' वही हो सकता है जो अपने आप–'वस्तु' है, इसलिये 'वास्तव' है....। या उसे भ्रांत या मिथ्या ठहरा सकते हैं। यह उस 'कुछ' का भाषा में सामान्य रूप ले कर विचार–चेतना में अनुप्रविष्ट हो जाना है। 'दुःख' को लीजिये। दुःख को 'दुःख' कहते ही दुःख मेरा या किसी का दुःख नहीं रहता, वह दुःख नहीं, दुःख का अर्थ ही रह जाता है, अब हम दुःख क्या, दुःख क्यों, उसका आशय क्या, प्रयोजन क्या, ऐसे प्रश्नों में उतर सकते हैं–यहाँ तक कह सकते हैं कि दुःख और सुख दोनों एक ही बृहत्तर भाव के (जैसे 'आनंद' के) के दो पक्ष या पहलू हैं, और दुःख की ऐसी समझ पर चिंतन, विवाद भी कर सकते हैं। यह इसलिये संभव है कि दुःख सामान्य होकर अर्थ–रूप हो गया है, हमारी विचार–चेतना ने उसे अपने में समो लिया है–यों विचार–चेतना अपने द्रष्टा–भाव में अर्थ को ही आत्मसात् करती है, किसी विशेष को नहीं। भाषा इस आत्मसात्–करण की माध्यम होती है।

कथा–साहित्य में दुःख या कुछ भी सामान्य का रूप लेकर हमारे अर्थ–बोध को ही संबोधित होता है। पर कथा अपना एक विशेष भी बुनती है। दुःख वहाँ किसी का दुःख होता है, वह शरीर का या मन का या और भी गहरा बुद्ध–जैसा आध्यात्मिक दुःख हो सकता है, पर उसे एक विशेष पात्र से जोड़ा जाता है, परिस्थिति–विशेष के संदर्भ में पिरोया जाता है। कथा के माध्यम से वहाँ किसी काल्पनिक संदर्भ–विशेष को ही अनुभव और अनुभव में बसी दृष्टि से संगत एक अवयवी का रूप देकर हमारी अनुभव–दृष्टि के सामने खड़ा किया जाता है। यों कथा हमारी विचार–चेतना की ओर ही उन्मुख होती है, पर यह विचार–चेतना साधारण विचार–चेतना से भिन्न होती है। तभी कथा का रूप लेती है–'सचमुच कुछ हो रहा है' ऐसा अध्यवसाय यहाँ नहीं होता। पर फिर भी एक अध्यवसाय यहाँ होता है जिसे कथा–निष्ठ अध्यवसाय कह सकते हैं। कथा–बोध में जागता यह अध्यवसाय 'कुछ हो रहा है' को विषय रूप से देखता हुआ सत्य–मिथ्या का निर्णय नहीं करता।

पर उसका द्रष्टा–भाव जागता रहता है, आलोचना–बुद्धि भी जागृत रहती है। कथा में भी विचार–चेतना उन्मुख सत्य की ओर ही होती है पर वह क्या खोजती है? यह कहना कि वह रस के आस्वाद और उनमें आये विघ्न को जाँचती है, बात को छोटा, ओछा कर देना होगा। उसकी खोज सत्य की ही होती है। पर प्रश्न होगा, कैसा सत्य, काहे का सत्य, जबकि अध्यवसाय के लिये कुछ प्रस्तुत ही नहीं होता? हम जानते ही रहते हैं कि जो कुछ प्रस्तुत सत्य नहीं है कल्पना की निर्मिति है। पर कल्पना सत्य की शत्रु नहीं है,जैसा कि कई विचारक कहते सुने जा सकते हैं। हम यह भी जानते हैं कि कल्पना के बिना विचार संभव नहीं, विचार का सत्य–संधान भी संभव नहीं। पर प्रश्न रह जाता है कि कल्पना यहाँ कैसा सत्य–संधान करती है, उसे कैसे अभिव्यक्त करती है? कल्पना के संधान को यहाँ समझा कैसे जाये? कल्पना यहाँ कथा–विशेष के कल्पना या अनुव्यवसाय–रूप माध्यम से अनुभव को विषय बना कर नहीं, अनुभव के भीतर रहते हुए ही अनुभव को अनुभव की आँख से ही देखती और व्यक्त करती है। कह सकते हैं कि साहित्य हमारे भोक्तृत्व को आँख दे देता है। हमारा मनुष्य–भाव अपनी सारी संभावना के साथ साहित्य में भावित होता है–विचारित नहीं। तभी साहित्य की अभिव्यक्ति व्यंजना द्वारा होती है, अभिधा द्वारा नहीं। हम अपने अनुभव पर विचार भी करते ही हैं–या यों कहिये कि हम मनुष्य–भाव पर, अपने मनुष्य होने की अनुभूति पर विचार करते ही हैं। पर ऐसे में हम अनुभव को विषय बना कर, अपने आप को–अपने मनुष्य भाव को अपने बाहर रख कर विषयरूप में देखते हैं–और विषय रूप में इसे अभिहित करते हैं, साहित्य की तरह इसे अनुभव की आँख के लिये व्यंजित नहीं करते। जबकि (शल्य जी के अंतर्दृष्टि–संपन्न शब्दों में) साहित्य में यह संभव होता है कि हम अपने विषयीभाव के अर्थ को–उसके सामान्य को–अपने विषयित्व में रहते हुए ही देख पाने की दृष्टि पा लेते हैं। यों यह आँख भी विचारग्राहक चेतना की ही विषयित्व के अर्थ पर विचार करती आँख ही होती है–बात जानने की ही होती है, और यों सत्य की। यहाँ विषयित्व को विषय नहीं बनाते हुए भी उसके भीतर रहते हुए ही उसे देखने की दृष्टि रूप लेती है। तभी यहाँ अर्थ का प्रेषण वर्णन– विवेचन–मीमांसा के माध्यम से नहीं बल्कि व्यंजना द्वारा होता है जो अनुभूति के अर्थ को अनुभूति की ही दृष्टिशिरा में–उसके अंतरग बोध के लिये ध्वनित कर पाती है। भाव को भाव की ही आँख से देख पाने

की बात पुराने रसवादियों ने की है, और यह भी कहा है कि ऐसा व्यंजना द्वारा होता है। पर थोड़ा भी अपने साहित्य–बोध में झांक कर देखिये तो सामने आता दिखता है कि विषयित्व का क्षेत्र भाव से कहीं व्यापक है, भाव ही नहीं संकल्प और विचार भी साहित्य में विषय रूप में नहीं, विषयित्व की प्रतीति लिये प्रस्तुत होते हैं। संकल्प का आंतरिक बोध तो कथा में जीवंत रूप ले पाता है। धर्म, उसके संकट, उसके संघर्ष उसकी प्राणों को मथते ऊहापोह, ये कथा के बाहर विचार की निःसंग गति जैसे रह जाते हैं। कथा में विचार भी हो तो वहाँ वह अनुभूति के स्पंद के साथ जागता है। यों तो विचार हमारी विशुद्ध निःस्पंद विचार–वृत्ति के प्रति ही उन्मुख होता है–जैसी यहाँ भी चेष्टा है–पर साहित्य में विचार विषयीभाव के अंग के रूप में आगे आता है। कथा में विचार किसी पात्र का होता है, उसकी चिंताओं, सरोकारों से मर्म का संबंध रखता है, किसी परिस्थिति के संदर्भ में किया जाता है– विचार वहाँ अनुभव के स्पंद के भीतर रहता हुआ, उसी में रँगा, उसी में उभरता दृष्टि के आगे आता है। जैसे महाभारत में गीता है। उसका अपने आप में भी महत्त्व हो सकता है, पर कथा में वह कथा–निमज्जित न हो तो दोष ही कहलायेगा। भाव की तरह ही विचार हमारे मनुष्य–भाव का अंग होता है, वह हमारे विषयित्व में पलता है, हमारे–बोध की अनुभूति–निमग्नता विचार करने के अनुभव में भी जागती है– साहित्य में 'विचार करने' का यह बोध अपने अनुभूति–स्पंद के साथ हमारी अनुभूत–करती आँख को प्रस्तुत होता है।

मनुष्य के रूप में हम सिद्ध ही नहीं साध्य भी हैं। तभी हम अपने भीतर संभावनाओं के आयाम–अंतरिक्ष पालते हैं। साहित्य हमारे जिस स्वरूप को–सत्य को– हमारे द्रष्टा के आगे जगाता है, वह मनुष्य–भाव के किसी साधारण, आठ–प्रहरी, प्रदत्त से स्वभाव का ही अनुव्यवसाय नहीं होता (हालांकि ऐसा भी होता ही है)–पर वह कहीं उदात्त, अगाध और विस्मयकर हो सकता है। तभी अभिनव रामकथा को नाटक का आदर्श बनाते हैं। पर वाल्मीकि को देखें तो मनुष्य–भाव की जो जटिल, अचिन्त्य संभावना उत्तरकाण्ड में आगे आती है उसे किसी 'आदर्श' या 'मर्यादा' जैसी सीधी–सरल कोटि में नहीं घेरा–बाँधा जा सकता, पर वह मनुष्य–भाव में कितने गहरे हमें उतारता है! साधारण विवेचना–मीमांसा करती विचार–चेतना के लिए भी मनुष्य–भाव का ऐसा जटिल महिम चित्र आँकना संभव है, पर वह

रामायण की तरह विचार की अनुभूति–डूबी आँखों में नहीं जागेगा। रामायण को यहाँ मैं एक बहु–परिचित उदाहरण के रूप में ले रहा हूँ। महाभारत को लीजिये तो मनुष्यभाव की भाव, ज्ञान, विचार, कर्म, अध्यात्म, सबको समाती बहुवर्ण जटिलता संवेदना–बोध के और भी अगाध तक कौंध जाती है। पर इन दो कृतियों को ही क्यों, इधर कथा या उपन्यास साहित्य की किसी भी कृति को लीजिये–प्रेमचंद को लीजिये या अज्ञेय को या रमेशचन्द्र शाह को या किसी और को–बात मनुष्य–भाव के अनुभूत सत्य को अनुभूति की आँखों के आगे जगाने की ही होती है। इसी को सहृदयता या संवेदना भी कह सकते हैं।

पर साहित्य में कथा ही नहीं होती, कविता भी होती है। पुराने लोग 'काव्य' शब्द से दोनों को अभिहित करते थे। कह सकते हैं कि कविता का विषयित्व से संबंध प्रकट या अपरोक्ष सा होता है–वह भावना का सीधा प्रकाश करती है। अकसर कवि की अपनी भावना का ही प्रदर्शन करती है–जैसे मीरा का, *दरस बिन दूखण लागे नैण, या सूरदास का, अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल,* या ऐसे ही और भी रचनायें जिन्हें गीति–काव्य का भी नाम दिया जाता है। यों कविता में कथा भी कही जा सकती है, और किसी भी वाङ्मय में कविता का बड़ा संभार कथा–काव्य का ही होता है। पर ऊपर के पदों से भी प्रकट है कि कविता कथा से बँधी नहीं होती। उसका एक विशाल भाग कथा–मुक्त होता है, और सहज ही ऐसा होता है, जैसा कि लोकसाहित्य के गीति–काव्य से स्पष्ट है। ऐसी कविता का भाव या भावना से संबंध स्पष्ट है। इस संबंध को अकसर ऐसा सीधा–साक्षात् सा माना जाता है मानो कविता भावना का उद्‌गीरण करती हो, वैसे ही जैसे आह, चीख या किलकारी करती है। पर कविता ऐसा कुछ नहीं होती–वह जलती आग से निकलता धुआँ जैसा कुछ नहीं होती। वह भावना का चिह्न नहीं, प्रतीक होती है–तब भी जब कवि अपनी ही भावना को प्रकट कर रहा हो। उसका भाषा में होना ही इस बात का प्रमाण है। कवि चाहे मीरा और सूर की तरह अपनी साक्षात् अनुभूत स्वगत भावना का प्रकाश कर रहा हो, वह भावना से तटस्थ रहता हुआ, भावना का द्रष्टा हो कर ही भावना को रूप देता है। वह भावना के अर्थ का प्रकाश करता है–जो भाषा–का–प्रयोग–करती आत्मचेतना के साक्ष्य में ही संभव है। यही विचार की आँख है। पर विचार की आँख भावना का वर्णन–विवरण भी दे सकती है, जैसा कि हम वैद–डॉक्टरों के आगे करते

हैं; इससे आगे बढ़ कर विचार भावना का विवेचन भी कर सकता है, उसकी मीमांसा कर सकता है, जैसा कि मनोवैज्ञानिक करता है। वहाँ भी बात भावना के अर्थ की ही होती है। पर, कहना न होगा, कवि ऐसा नहीं करता। वह अनुभूति को हमारे अनुभूति–बोध की आँखों के लिये ही उभारता है – पर यह अनुभूति का अर्थ ही होता है जो अभिहित न हो कर व्यंजित होता है–तभी वह भावित और संवेदित होता है; विचार–चेतना वहाँ भाव–चित में रहते हुए ही अर्थ का अवगाहन करने में सक्षम होती है। यही व्यंजना का काम है। पर अर्थ यहाँ भी सामान्य होता है, नहीं तो विचार–चेतना उसका ग्रहण ही न कर पाये, चाहे वह भावना–निष्ठ विचार ही क्यों न हो–और कवि का सामर्थ्य, उसकी शक्ति या प्रतिभा इसी बात में होती है कि वह भावना का सार्थक संप्रेषण कर पाये। भावना का व्यंजनामय संप्रेषण कर पाना, यही कवि को अकवि से अलग करता है। यह बात काव्य–शिक्षा की या किसी सधी–सधाई काव्य–भाषा–भंगी की नहीं है, सिद्ध–रूढ़ भंगियाँ या रीतियाँ तो व्यंजना को पंगु कर दे सकती हैं, उसे सपाट, भोथरा बना दे सकती हैं। मीरा और कबीर की व्यंजना ऐसी किसी रीति की मोहताज नहीं, उसमें उन्मेष है।

पर कविता का किसी रीति से निर्बंध होने का अर्थ यह भी है कि कविता का भावलोक सीमित नहीं होता। चेतना में नये अर्थ, नये उत्कर्ष, अपने सत्य या स्वरूप के नये साक्षात्कार और उसके संप्रेषण की संभावना अनंत है। मीरा, सूर, कबीर–जिन कवियों का हमने नाम लिया, इनकी सी कविता इनके पहले आये युगों में नहीं मिलती। इनकी भाव–दृष्टि भावना के एक नये अंतरिक्ष में विचरण करती और कराती है। इनके बाद के कवि–आज के कवि–इनके भी अनदेखे आकाश में घूमते हैं, और इस सिलसिले का कोई अंत नहीं।

पर कथा–साहित्य की तरह ही कविता केवल भाव से ही संबंध नहीं रखती। विचार भी उसके अनुभूति–स्पंद में जागता दिखता है। गीता को ही लीजिये। उसे जो 'गीत' कहा गया है, इसमें एक गहरा कारण है। गीता एक ऐसी गहरी विचार–दृष्टि प्रस्तुत करती है जहाँ विचार विचारित ही नहीं, भावित है, युक्ति वहाँ अनुभव की जीवंत भूमा में बसी है, तभी वह अनुभव के आयामों को ही नहीं खोलती चलती, अनुभव की शिरा को उसकाती, दीप्त करती, जागती है–यह प्रेरणा उसकी भाषा में, कथन–भंगी में उभर आती है, उसे काव्य होने का अधिकार देती है। कठ और ईश जैसे उपनिषदों में भी

हम यही बात पाते हैं। इन्हें विचार का काव्य–रूप कहा जा सकता है। पर इन्हीं में नहीं, कविता में अन्यथा भी विचार का भावित स्पंद अनुभूत होता देखा जा सकता है। अज्ञेय की एक छोटी सी कविता लीजिये–शीर्षक है, 'काल स्थिति'। कविता विचार की एक छोटी–सी गति, एक युक्ति–गर्भ ऊह की तरह सामने आती है :

जिस अतीत को मैं भूल गया हूँ वह
अतीत नहीं है क्योंकि वह
वर्तमान अतीत नहीं है।
जिस भविष्य से मुझे कोई अपेक्षा नहीं वह
भविष्य नहीं है क्योंकि वह
वर्तमान भविष्य नहीं है।
स्मृतिहीन, अपेक्षाहीन वर्तमान–
ऐसा वर्तमान क्या वर्तमान है–
वही क्या है?

अंत की दो लाइनों में आया प्रश्न जिस हैरानी को व्यक्त करता है वही कविता के अंतरंग भावाभिनिवेश को व्यंजित भी करता है–अन्यथा कविता का ऊह चित्त–सापेक्ष, अनुभूत काल को काल के निरपेक्ष, जड़ प्रवाह से अलग करती एक विवेचना जैसा भी जान पड़ता सकता है।

ए 37 / 38, विश्वामित्र मार्ग, श्यामनगर,
अजमेर रोड, जयपुर, 302006

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. *तत्र नाट्यं नाम लौकिकपदार्थव्यतिरिक्तं तदनुकारप्रतिबिम्बालेख्यसादृश्यारोपाध्यवसायोत्प्रेक्षास्वप्नमायेन्द्रजालादिविलक्षणतद्ग्राहकस्यसम्यग्यज्ञानभ्रान्तिसंशयानवधारणानध्वसायविज्ञानभिन्नवृत्तान्तास्वादनरूपसंवेदनसंवेद्य वस्तु रसस्वभावमिति वक्ष्यामः। (नाट्यशास्त्र, 1, 1 पर अभिनवभारती)*
2. *अभिनव की जिस अनुव्यवसाय–चर्चा को मैंने यहाँ कुछ विस्तार से लिया है, पर उस पर आज के विचार का ध्यान नहीं–सा ही गया है। इसलिये उस चर्चा को यहाँ अनुवाद–समेत उद्धृत करना उपादेय समझता हूँ, हालांकि चर्चा कुछ लंबी ही है : नाट्ये तु पारमार्थिकं किंचिदद्य मे कृत्यं भविष्यतीत्येवंभूताभि–सन्धिसंस्काराभावात्सर्वपरिषत्सा–धारणप्रमोदसारापर्यन्तविरसना (समा) दरणीयलोकोत्तरदर्शनश्रवण योगी भविष्यामीत्यभि सन्धिसंस्कारादुचित–*

गीतातोद्यचर्वणाविस्मृत–सांसारिकभावतया विमलमुकुरकल्पीभूतनिजहृदयः, सूच्याद्यभिनयावलोकनोद्भिन्नप्रमोदशोकादितन्मयीभावः, पाठ्याकर्णनपात्रान्तरप्रवेशवशात् समुत्पन्नेदेशकालविशेषावेशानलिङ्गितेसम्यक्मिथ्यासंशयसम्भावनादिज्ञान विज्ञेयत्वपरामर्शनास्पदे, रामरावणादिविषयध्यवसाये, तत्संस्कारनुवृत्तिकारणभूततत्सह चरहृद्यवस्तुरूपगीतातोद्य प्रमदानुभवसंस्कार सूचितसमनुगततदुक्तरूपरामा ध्यवसायसंस्कार एव भव (प्त?) त्पंचषैर्दिवसैः सचमत्कारतदीयचरितमध्य प्रविष्टस्वात्मरूपमतिः स्वात्मद्वारेण विश्वं तथा पश्यन् प्रत्येकं सामाजिको देशकालविशेषणापरामर्शेन एवंकारिणामिद मितिलीढा(लिङ्गा) त्मकविधि– समर्पितंसंविज्जातीयमेवसंवित्विशेषरंजक प्राणवल्लभा प्रतिमरसास्वाद– सहचररम्यगीतातोद्यादिसंस्काररसा (नुभव) वशेन हृदयाभ्यन्तरनिखातं तत एव उत्पुङ्खतैरपि म्लानिमात्रमप्यभजमानं भजंस्ततच्छुभाशुभुप्रेप्साजिहासासतत सूतवृत्तित्वादे वशुभमाचरत्यशुभं समुज्झति। इदानीमुपायसंवेदनालाभात् तदिदमनुकीर्तनमनुव्यवसायविशेषो नाट्यापरपर्यायः। नानुकार इति भ्रमितव्यम्। अनेन भाण्डेन राजपुत्रस्यान्यस्य वा नुकृतेन्या (कृतावन्या)दिबुद्धेरभावात्। तद्धि विकरणमिति हास्यमात्रफलम् मध्यस्थानाम्। ......

ननु एवं तावता नियतानुकारो मा भूत। अनुकारेण तु किमपराद्धम्। न किचिंदसम्भवादृते। अनुकार इति हि सदृशकरण्। तत्कस्य। न तावद्रामादेः। तस्याननुकार्यत्वात्। एतेन प्रमदादिविभानामनुकरणं पराकृतम्। न चित्तवृत्तीनां शोक क्रोधादिरूपाणाम्। न हि नटो रामसदृशं स्वात्मनः शोकं करोति। सर्वथैव तस्य तत्राभावात्। भावे वाननुकारत्वात्। न चान्यद्वस्त्वस्ति यच्छोकेन सदृशं स्यात्। अनुभावांस्तु करोति। किन्तु सजातीयानेव। न तु तत्सदृशान्। साधारणरूपस्य कः केन सादृश्यार्थः। त्रैलोक्यत(?व) र्तिनः सदृशत्वन्तु न विशेषात्मना यौगपद्येनोपपद्यते। कदाचित्क्रमेण नियत एवानुकृतः स्यात्। सामान्यात्मकत्वे कोनुकारार्थः। तस्तादनियतानुकारो नाट्यमिति न भ्रमितव्यम्। अस्मदुपाध्यायकृते काव्यकौतुकेप्ययमेवाभिप्रायो मन्तव्यः। न त्वनियतानुकरोपि।

तेनानुव्यवसायवत् विशेषविषयीकार्यं नाट्यम्। तथाहार्यविशेषादिना निवृते तद्देशकालचैत्रमैत्रादिनटविशेष–प्रत्यक्षाभिमाने विशेषलेशोपक्रमेण च विना प्रत्यक्षप्रवृत्तेरायाते रामादिशब्दस्यात्रोपयोगात् प्रसिद्धतदर्थतयादरणीयचरित– वाचकस्यासम्भावनामात्रनिराकरणे नानुव्यवसायस्य प्रत्यक्षकल्पनाट्ये हृद्यगीताद्यनुसूततया चमत्कार–स्थानत्वाद्धृदयानुप्रवेश योग्यमभिनयचतुष्टयेन स्वरूपप्रच्छादनं, प्रस्तावनादिना नटज्ञानजसंस्कारसाचिव्यं, तेन रंजकसामग्रीमध्‍ यानुप्रविष्टेन प्रच्छादितस्वस्वभावेन प्राक्प्रवृत्तलौकिकप्रत्यक्ष नुमानादिजनितसंस्कारसहायेन सहृयसंस्कारसचिवेन हृदयसंवादतन्मयीभावना– सहकारिणा प्रयोक्त्रा दृश्यमानेन योनुव्यवसायो जन्यते सुखदुःखाद्याकारतत्तच्चित्त– वृतिरूपरूषितनिज संविदानन्दप्रकाशमयः अत एव विचित्रो सरनास्वादन– चमत्कारचर्वणनिर्वेश–भोगाद्यपरपर्यायः तत्र यदवभासते वस्तु तन्नाट्यम्। तच्च ज्ञानाकारमात्रमारोपितं स्वरूपं सामान्यात्मकं निर्मितरूपं चान्याद्वा किचिंदस्तु।

नात्राप्रस्तुतलेखनेनात्मनो दर्शनान्तरकथापरिचयनप्रकटन फलेन प्रकृतवस्तु–विघ्नमाचरन्तः सहृदयान्खेदयामः।
तस्मादनुव्यवसायात्मकं कीर्तनं रूषितविकल्पसंवेदनं नाट्यम्। तद्वेदनवेद्यत्वात्। नत्वनुकरणरूपम्। यदि त्वेवं मुख्यलौकिककरणानुसारितयानुकरणमित्युच्यते तन्न कश्चिद्दोषः। स्थिते वस्तुतो भेदे शब्दप्रवृत्तेरविवादास्पदत्वात्।

(नाट्यशास्त्र, 1, 107 पर अभिनवभारती)

उद्धरण जिस रूप में उपलब्ध है उसमें पाठ की कुछ समस्यायें, अस्पष्टतायें हैं, पर आशय छुपा नहीं है। आगे इसका एक अपना सा अनुवाद देता हूँ, जहाँ आशय को उभारने की चेष्टा ही प्रधान है :

'नाट्य देखते हुए मुझे यह बोध नहीं रहता कि इस संदर्भ में मुझे सचमुच कुछ करना है; ऐसे किसी संस्कार या अभिप्राय से मुक्त हो कर मेरे मन में यही ध्यान रहता है कि मैं अब दूसरे दर्शकों से साथ ऐसे लोकोत्तर श्रवण–दर्शन का भागी बनूंगा जो मुझे प्रमोद के सार तक ले जायेगा। इस (विलक्षण) संस्कार के साथ मैं नाटक देखने में प्रवृत्त होता हूँ और (नाट्य के) उपयुक्त गीत–वाद्य में रम जाता हूँ। यों अपने साधारण सांसारिक भाव को बिसार देता हूँ। मेरा हृदय एक स्वच्छ, निर्मल दर्पण जैसा हो जाता है और अभिनय की महिमा से शोक, प्रमोद आदि भावों में तन्मय हो जाता है। ऐसे लोक में प्रवेश कर जाता है जहाँ देश–काल विशेष का बोध नहीं रहता –(नाट्य के) इस लोक को मैं साधारण अनुभव के लोक की तरह ज्ञान का विषय नहीं समझता, इसलिये इसके प्रति सम्यक् (यह वास्तव है), मिथ्या (यह अवास्तव है), संशय (हो रहा है या नहीं यह द्विधा), और संभावना (शायद हो रहा है) जैसी वृत्तियाँ मौन हो जाती हैं। (पर) नाट्य में प्रस्तुत राम–रावण के विषय में 'ये हैं' ऐसा (नाट्यगत) अध्यवसाय होता है। सहचरों की भूमिका करते पात्रों के सहारे और गीत–आतोद्य आदि प्रमोदमय अनुभव के सहारे, यह 'अध्यवसाय' मुझमें तब तक संस्कार की तरह बना रहता है जब तक नाट्य चलता है। मैं चित्त–चमत्कार के साथ राम के चरित में ऐसा डूब जाता हूँ कि मेरी मनीषा मेरे उस राम–निमज्जित स्वात्म की आँखों से ही जगत् को देखती है और उसमें देश–काल से विमुक्त यह गहरा बोध जाग आता है : 'एवंकारिणामिदम्' (जो ऐसा करता है उसे यह मिलता है)। यह बोध बोध–दर्शक के रूप में मेरी चेतना से एकाकार होता है; चेतना–विशेष को रँगता हुआ (यह बोध) प्राण–प्रिया प्रेयसी के समान रसास्वाद में सराबोर करता हुआ हृदय में ऐसा चुभ जाता है कि वहाँ से निकाला नहीं जा सकता, मुरझा नहीं सकता– चित्त सहज ही शुभ के ग्रहण और अशुभ के त्याग की ओर उन्मुखता से विद्ध हो उठता है। इसीलिए (नाट्य को यों परिभाषित करना चाहिए): उपाय–विशेष से व्यंजित संवेदना जगाता, किसी (राम जैसे के चरित का) अनुकीर्तन नाट्य है, यह अनुव्यवसाय विशेष है (जो हमारे ग्रहण के अंतःसूत्र में पिरोई गई एक विशेष योजना–ग्रथित कृति का

रूप लेता है)। तो, इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये कि नाट्य अनुकरण है। अनुकरण तो किसी राजपुत्र की या किसी और की चेष्टाओं की भोंडी (विकृत) नकल होती है–तभी उसे 'विकरण' के नाम से भी जाना जाता है। ऐसे अनुकरण में यह बोध बना रहता है कि अमुक राजकुमार का या किसी और का अनुकरण हो रहा है। तभी, जिसका यों उपहास किया जाता है उसके चाहने वालों में यह (अनुकरण) द्वेष और असूया को जन्म देता है।

पर (कहा जा सकता है कि) चलिये, नाट्य को 'नियत' अनुकरण नहीं भी कहें तो भी 'अनुकरण' कहने में अपराध क्या? अपराध कुछ नहीं सिवा इसके कि यह संभव ही नहीं। 'अनुकरण' का अर्थ है, 'सदृश–करण'। पर किसका? राम जैसों का तो हो ही नहीं सकता। राम जैसों के किये का सदृश–करण संभव ही नहीं। इस बात से यह भी आपादित हो जाता है कि जिन विभावों को (पात्रों और दृश्यों को) मंच पर प्रस्तुत किया जाता है, उन्हें 'अनुकरण' नहीं कहा जा सकता। फिर, चित्तवृत्तियों का–जैसे शोक, क्रोध इत्यादि– इनका अनुकरण तो और भी असंभव है। अभिनेता अपने शोक को 'राम–सदृश' नहीं बनाता है। अभिनेता में वैसा शोक हो ही नहीं सकता। अगर हो तो उसे 'अनुकृत शोक' नहीं कहा जा सकेगा। फिर ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे 'शोक के सदृश' कहा जा सके। अभिनेता शोक का अभिनय करता है (शोक के अनुकूल अनुभावों का–चेष्टाओं का–प्रदर्शन करता है)। ये चेष्टायें सजातीय होती हैं (शोक की उन चेष्टाओं के अंतर्गत होती हैं जिन्हें शोक की सामान्य चेष्टायें कहा जा सकता है); ये किसी की चेष्टाओं के 'सदृश' चेष्टायें नहीं होती। अब, जहाँ बात रूप सामान्य की हो वहाँ किसी को किसी के सदृश कहना ठीक नहीं। यों भी नाट्य जिस त्रिलोक को (प्रस्तुत) करता है उसके विशेष रूपों का सादृश्य तो एक साथ दिखाया ही नहीं जा सकता। हो सकता है कि किसी क्रम से उसकी नियत अनुकृति संभव हो। पर (जो भी हो) नाट्य में प्रस्तुति सामान्य की होती है, और सामान्य की अनुकृति नहीं की जा सकती। इसीलिए इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये कि नाट्य अनुकरण तो है, पर नियत नहीं, अनियत अनुकरण है।

नाट्य को उस अनुव्यवसाय जैसा समझना चाहिए जो (सामान्य को) विशेष रूप में खड़ा करता है। हम पाते हैं कि आहार्य आदि अभिनय के सहारे हममें यह प्रत्यक्ष–बोध निवृत्त हो जाता है कि हम प्रस्तुत देश–काल में चैत्र, मैत्र आदि विशेष अभिनेताओं को अपने सामने देख रहे हैं। पर यों विशेष भाव कि जागे बिना भी जो हम देखते हैं उसका प्रत्यक्ष होना तिरोहित नहीं होता–अभिनेताओं के लिये अब 'राम' आदि शब्दों का प्रयोग होने लगता है। 'राम' आदि शब्दों का अर्थ प्रसिद्ध है और आदरणीय चरित का वाचक है – इस शब्द–प्रयोग से होता यह है कि (अभिनेता के) राम न होने की असंभावना का निरास हो जाता है और बोध में नाट्य एक प्रत्यक्षवत् अनुव्यवसाय विशेष के रूप में जाग उठता है। इस अनुव्यवसाय–बोध में अभिनेता अभिनेता के रूप में भी प्रस्तुत होता है, पर उसका स्वरूप आच्छादित भी रहता है। अभिनय के वैविध्य और कौशल के साथ नाट्य

में मनोहारी गीतवाद्य का होना एक चमत्कार पैदा करता है जो अभिनेता के अभिनेता स्वरूप को ढक देता है; पर नाट्य के आरम्भ में आई प्रस्तावना से हम जानते भी रहते हैं कि यह (अमुक) अभिनेता है। यों नाट्य–प्रयोक्ता द्वारा दिखाई जाती सामग्री–योजना एक विशेष अनुव्यवसाय (योजना–बोध) को जन्म देती है जिसमें रंजक सामग्री के बीच अनुप्रविष्ट होकर अभिनेता का अपना स्वरूप तिरोहित हो जाता है। दर्शक का पहले से बना लौकिक प्रत्यक्ष, अनुमान आदि का संस्कार बना रहता है, पर इस संस्कार के साथ सहृदयत्व (संवेदना) का संस्कार आ जुड़ता है; हृदय के साथ (प्रस्तुत) नाट्य का संवाद (हृदय को) उसमें तन्मय कर देता है–इन सारे सम्मिलित कारणों से जो अनुव्यसाय–बोध जागता है वह संवित् आनंद और प्रकाशमय होता है, जिस (बोध) में सुख–दुःख आदि रूप चित्तवृत्तियाँ बिंधी रहती हैं। इस तरह जो विचित्र 'रसन', 'आस्वादन', 'चमत्कार', 'चर्वण', 'निर्वेश', 'भोग' आदि शब्दों द्वारा कही जा सकती वस्तु आभासित होती है वह नाट्य है। उसे ज्ञानाकार मात्र कहिये या सामान्यात्मक आरोपित स्वरूप कहिये या तत्काल–निर्मित रूप कहिये या और कुछ कहिये, इन दार्शनिक विचारों में मैं नहीं उतरना चाहता। मैं यहाँ यह दिखाने नहीं बैठा हूँ कि मुझे दर्शन में पैठ है–ऐसा करने से प्रस्तुत विषय में विघ्न ही उपस्थित होगा और सहृदयों को खेद पहुँचेगा।

यों अनुव्यवयाय रूप कीर्तन–विकल्प–बोध–बिंधा संवेदन–यही नाट्य है : क्योंकि ऐसे ही बोध से जाना जाता है। उसे अनुकरण कहना ठीक नहीं। पर उसे लौकिक उपकरणों द्वारा खड़ा किया जाता है, इसलिए उसे 'अनुकरण' कह भी दिया जाये तो इसमें दोष नहीं। वस्तु में भेद के (विदित) रहते अगर शब्द–प्रयोग एक भी हो तो इसमें विवाद की कोई बात नहीं।

अद्वैत वेदांत में द्वैत का स्वरूप एवं उसका निरास

सभाजीत मिश्र

द्वैतपरक जगत् लोक अनुभव का विषय है। अद्वैत वेदांत में इसे नाम–रूप का संसार कह कर मिथ्या घोषित किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् के 'नेह नानास्ति किंचन', मांडूक्योपनिषद् के 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति', तैत्तिरीय उपनिषद् के 'ब्रह्मविदाप्नोति' आदि कथनों द्वारा एक ओर जगत् के द्वैत के मिथ्यात्व का और दूसरी ओर ब्रह्म की एक मात्र सत्ता का प्रतिपादन करते हुए यह कहा गया है कि आत्म अथवा ब्रह्म के ज्ञान से अविद्याजन्य जगत् के द्वैत का निरास हो जाता है। शंकराचार्य तार्किक स्तर पर प्रतिपादित करना चाहते हैं कि जगत् अध्यासजन्य है और इसी आशय से उन्होंने अध्यासभाष्य में, जो कि उनके ब्रह्मसूत्र भाष्य की भूमिका है, अध्यास की सर्व व्यापकता की स्थापना की है। शंकराचार्य के अनुसार अध्यास के कारण ही समस्त प्रमाण–प्रमेय व्यवहार तथा सभी लौकिक तथा वैदिक व्यवहार प्रवृत्त होते हैं। यहाँ तक कि सम्पूर्ण शास्त्र को उन्होंने अंध्यास के भीतर ही स्थापित किया है।[1]

द्वैत के संबंध में यह दृष्टि अद्वैत वेदांत के लिए जितनी केन्द्रवर्ती है उतनी ही विवादास्पद भी है। प्रस्तुत लेख में एतद् विषयक कतिपय कठिनाईयों का संकेत करते हुए अद्वैत वेदांत की दार्शनिक संरचना के भीतर ही, विशेषतः स्वामी विद्यारण्य का अनुसरण करते हुए उसका समाधान तलाशने की चेष्टा की गई है। कुछ कठिनाईयाँ इस प्रकार हैं :

जनसामान्य के लिए द्वैत तथा उसके मिथ्यात्व की घोषणा करने वाले औपनिषद् कथनों का अर्थ आग्राह्य है क्योंकि वह अनुभव विरूद्ध प्रतीत होता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि स्वयं आचार्य शंकर अनुभव को एक सबल प्रमाण मानते हैं और उनकी कई मान्यताओं तथा स्थापनाओं के आधार में लोकानुभव भी है।

बौद्ध विज्ञानवादियों तथा शून्यवादियों की आलोचना करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि ज्ञान वस्तुतंत्र है।[2] प्रत्यक्षगत जगत् विज्ञान नहीं है और न ही उसके प्रत्यक्ष के मूल में शून्यता है। द्वैतमूलक जगत् की प्रतीति

का अधिष्ठान सत्ता है और वह सत्ता ब्रह्म है। अब यह प्रश्न उठता है कि यदि जगत् प्रपंच का आधार सत्ता है तो ज्ञान से उसका निरास कैसे हो सकता है? इस प्रश्न को अद्वैतवाद के ही इस तर्क से बल प्राप्त होता प्रतीत होता है कि सत् असत् नहीं हो सकता और असत् सत् नहीं हो सकता।[3]

यह भी विचारणीय है कि ज्ञानोपरांत द्वैत के तिरोभाव का क्या अर्थ है ? तिरोभाव अनुभव विरूद्ध तो है ही तथा साथ ही साथ जीवनमुक्ति की अवधारणा से भी इसका सामंजस्य बैठाने में कठिनाई प्रतीत होती है। जीवनमुक्त जगत् में ही स्थित होता हुआ सक्रियता का जीवन व्यतीत करता है। तिरोभूत द्वैत की दशा में नैतिक जीवन की संभावना भी एक कठिनाई उपस्थित करती है और यह भी माना जा सकता कि अद्वैत वेदांत में नैतिक तथा सामाजिक जीवन के लिए कोई अवकाश नहीं है।

उपर्युक्त असंगतियों को देखते हुए उपनिषदों में प्रतिपादित तथा अद्वैत वेदांत द्वारा संपुष्ट द्वैत के निरास के अर्थ पर विचार करना समीचीन प्रतीत होता है। अपने इस प्रयास के क्रम में हम यह भी रेखांकित करना चाहेंगे कि अद्वैत वेदांत के समानांतर पद्धति का प्रयोग करके पश्चिम के फेनोमेनालॉजी के विचारकों ने मानवीय विज्ञानों के साथ–साथ प्राकृतिक तथा गणितीय विज्ञानों की सीमाओं को उद्‌घाटित करके एक नई चिंतन धारा का सूत्रपात किया है।

द्रष्टव्य है कि द्वैत के स्वरूप तथा उसके निराकरण की समस्या पर विचार करते हुए स्वामी विद्यारण्य ने पंचदशी में दो प्रकार के द्वैत में भेद किया है। उनके अनुसार एक द्वैत वह है जो ईश्वरकृत है। उस द्वैत का निरास नहीं हो सकता और वह निरास्य भी नहीं है। दूसरा द्वैत जीवकृत है : वह निरासयोग्य है और अद्वैत वेदांत के अनुसार अविद्याजन्य जीवकृत द्वैत ही मोक्ष प्राप्ति में बाधक है। इसका हम संक्षेप में विवेचन करेंगे।

ईश्वरकृत द्वैत

पंचदशी के द्वैत विवेक अध्याय में दोनों द्वैतों में भेद करते हुए स्वामी विद्यारण्य लिखते हैं–"द्वैत की रचना ईश्वर तथा जीव दोनों करते हैं। जब व्यक्ति को यह ज्ञान हो जाता है कि कौन सा द्वैत ईश्वरकृत है और कौन सा उसके द्वारा कृत है तभी वह यह निश्चय कर सकता है कि कौनसा द्वैत हेय है, बंधन का कारण है तथा निराकरण के योग्य है।[4]"

ईश्वरकृत द्वैत की अवधारणा के पीछे अद्वैत वेदांत का यह मान्य सिद्धांत है कि ईश्वर से ही जगत् की उत्पत्ति होती है, ईश्वर द्वारा ही वह

धारित है, तथा ईश्वर में ही वह विलीन हो जाता है (यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रेत्याऽभिसंविशन्ति, तैत्तिरीय उपनिषद् 3.1)। मायावी ब्रह्म ईश्वर है। यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। माया शक्ति के कारण ही नामरूपादि से रहित ब्रह्म की अभेदमूलक सत्ता वस्तुओं तथा जीवों की नानात्मकता में भिन्न–भिन्न रूप में प्रकाशित होती है। न्याय दर्शन के विपरीत अद्वैत वेदांत में ब्रह्म की जगत्कारणता अनुमान के आधार पर नहीं स्थापित की गई है : श्रुतिवाक्यों में सुसंगति स्थापित करके ब्रह्म को जगत् का कारण कहा गया है। हाँ, यदि अनुमान अविरोधी है और वह श्रुतियों के अर्थनिर्धारण को दृढ़ता प्रदान करता है तो वह अनुमान भी ग्राह्य है।[5] अद्वैत ग्रंथों में, विशेषतः ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य में जगत् की उत्पत्ति संबंधी विभिन्न व्याख्याओं की परीक्षा की गई है : श्रुति तथा तर्क की प्रतिकूलता के आधार पर उनका खंडन किया गया है तथा यह स्थापित किया गया है कि ब्रह्म ही जगत् का कारण हो सकता है। अद्वैत तर्क का सारतत्त्व एक तो यह है कि चेतन अधिष्ठान के बिना कोई क्रिया संभव नहीं है और दूसरे यह है कि अभाव का कभी भाव नहीं हो सकता। चार्वाक स्वभाववाद के द्वारा अथवा वैशेषिक परमाणुवाद के द्वारा सृष्टि की व्याख्या इस नाते नहीं कर पाते क्योंकि अचेतन भौतिक तत्त्व या परमाणु स्वतः से क्रिया में नहीं प्रवृत्त हो सकते। यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि भौतिक तत्त्वों या परमाणुओं में क्रिया नहीं हो सकती तो ब्रह्म में भी क्रिया नहीं हो सकती क्योंकि ब्रह्म परिभाषया निष्क्रिय तथा निर्विशेष है। किन्तु अद्वैतवादियों के अनुसार यह प्रश्न असंगत है। अद्वैतवाद का तर्क यह है कि हम मानते हैं कि क्रिया अचेतन में होती है और हम चाहते हैं कि वह उसी में रहे : हम केवल यह कहते हैं कि अचेतन तत्त्व स्वयं क्रिया में प्रवृत्त नहीं हो सकता, चेतन तत्त्व ही उसे क्रिया में प्रवृत्त करता है।[6] लोकानुभव में भी देखा जाता है कि चेतन के होने पर ही क्रिया होती है और चेतन के न होने पर क्रिया नहीं होती। चेतन शरीर में ही क्रिया होती है : अचेतन शरीर में क्रिया नहीं देखी जाती। यह आशंका निर्मूल है कि स्वयं ईश्वर प्रवृत्ति रहित है इसलिए वह प्रवर्तक नहीं हो सकता, क्योंकि श्रुतियों में बार–बार स्पष्ट किया गया है कि अविद्या से चेतन में कल्पित द्वैत से प्रवर्त्य–प्रवर्तक भाव उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वगत, सर्वात्मा तथा सर्वशक्तिमान मानने से उसे सबका प्रवर्तक मानना सर्वथा युक्त है।

योगाचार बौद्ध सहोपलंभ नियमादि के आधार पर यह स्थापित करता है कि अंतर्ज्ञेय विज्ञान ही बाह्य पदार्थवत् प्रतीत होता है। विज्ञान और वस्तु में भेद नहीं है अथवा विज्ञान ही वस्तु है। शंकराचार्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों तथा लोकव्यवहार का सहारा लेकर इस व्याख्या का खंडन करते हैं। विज्ञान तथा वस्तु का भेद सामान्य अनुभव का विषय है। पदार्थ को देखता हुआ अथवा पदार्थ के साथ व्यवहार करता हुआ व्यक्ति यह नहीं कहता कि वह विज्ञान को देख रहा है या विज्ञान के साथ व्यवहार कर रहा है। इसके अतिरिक्त, जो प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों से उपलब्ध है, वह संभव है; जो किसी भी प्रमाण से उपलब्ध नहीं है, वह संभव नहीं है। विषय का ज्ञान से सारुप्य होने से विषय का अभाव नहीं होता, विषय के न होने से विषय का ज्ञान से सारुप्य भी नहीं हो सकता। इसलिये यदि विज्ञान और विषय की साथ–साथ प्रतीति होती है तो उनमें उपाय–उपेय संबंध मानना चाहिए, दोनों में अभेद मानना युक्तिसंगत नहीं है। पुनः यदि विज्ञान ही विषय हो तो दोनों में भेद का आधार नहीं रह जाता। अविद्यमान वस्तु के समान वस्तु की प्रतीति संभव नहीं है। यदि विज्ञानवादी यह कहते हैं कि पूर्व संस्कारों के नाते बाह्य पदार्थों की प्रतीति होती है तो भी मूल समस्या ज्यों की त्यों रह जाती है : पदार्थों के अभाव में पदार्थों के संस्कारों का जन्म कैसे होता है।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि वस्तुओं तथा जीवों की अनेकता के रूप में अवभासित होने वाले द्वैत का कारण केवल ईश्वर है। इस संबंध में श्रुतियाँ कहती हैं : ब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनंत है, उसी ब्रह्म से आकाशादि उत्पन्न हैं।[7] "उसने कामना की है कि मैं अनेक हो जाऊँ।"[8] "जिस प्रकार अग्नि से स्फुल्लिंग उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अचेतन पदार्थ तथा चेतन जीव अविनाशी ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं।"[9] विद्यारण्य लिखते हैं : 'वही ईश्वर अपने अपरिवर्तनीय रूप को परिवर्तित करके जीवों के शरीर में प्रविष्ठ होता है।'[10]

जीवकृत द्वैत

ईश्वरकृत द्वैत के अतिरिक्त जीवकृत द्वैत का उल्लेख बृहदारण्यक उपनिषद् में इस प्रकार उपलब्ध है : परमात्मा पिता ने अपने ज्ञान तथा कर्म से सात अन्नों को उत्पन्न किया। इनमें से साधारण (अनाज आदि) सबके भोग के लिये है। हूत और अहूत अथवा दर्श एवं पूर्णमाश उन दो को देवताओं को प्रदान किया, मन, वाणी तथा प्राण इन तीनों को उसने अपने लिए रख लिया और सातवाँ अन्न, दूध पशुओं के लिए प्रदान किया।'[11] उपनिषद् की

इस अवधारणा का विश्लेषण स्वामी विद्यारण्य इस प्रकार करते हैं : ये सात प्रकार के अन्न ईश्वर द्वारा स्वरूपतः उत्पन्न अवश्य हैं किन्तु जीव अपने ज्ञान तथा कर्म द्वारा इन्हें अपने भोग के विषय में बदल देता है।[12] इसका अभिप्राय यह है कि अन्नों की उत्पत्ति का कारक ईश्वर है। उनकी अन्नता का कारण जीव है। अन्य शब्दों में, स्वरूपतः अन्न मात्र अन्न है : उपभोग के रूप में उसका अन्न होना जीव के कारण है। विद्यारण्य का द्विविध भेद का यह विश्लेषण कितना महत्त्वपूर्ण एवं दार्शनिक दृष्टि से संपन्न है इसको समझने के लिए एक क्षण के लिए हम अपना ध्यान फेनोमेनालाजिकीय अस्तित्ववादियों के द्वारा किये गये इसी प्रकार के भेद की ओर ले जायें। प्रसंग थोड़ा भिन्न है। किन्तु अंर्तदृष्टि समान है। वस्तु तथा चेतना में भेद करते हुए तथा वस्तु के स्वरूप को परिभाषित करते हुए सार्त्र कहता है कि वस्तु मात्र वस्तु है, वह जो है वही है। वस्तु का वस्तुत्व मनुष्यकृत है। स्वरूपतः वस्तु जैसी होती है वैसी ही हो जाती है : उसके अर्थ और प्रयोजन का निश्चय मनुष्य की योजनायें करती हैं। अन्य शब्दों में स्वरूपतः प्रदत्त एवं विद्यमान वस्तु के ऊपर मनुष्य अपने कर्मों एवं योजना के द्वारा एक मानवीय जगत् की रचना करता है। स्पष्ट है कि एक द्वैत प्रदत्त है, एक मानव रचित है।[13]

अस्तु अद्वैत वेदांत के अनुसार जहाँ तक जगत् की सत्ता का प्रश्न है उसका कारण ईश्वर है जो कि अपनी माया शक्ति से द्वैत मूलक जगत् की रचना करता है। जीव का माया के ऊपर कोई नियंत्रण नहीं है और इसीलिए जगत्–प्रपंच की रचना में वह किसी प्रकार का कारण नहीं है। किन्तु जगत् की उत्पत्ति के पश्चात् जीव अपने संकल्प का प्रयोग करता है तथा वस्तु–जगत् को अपने प्रयोग तथा लोभ के विषय में रूपांतरित कर देता है। इस प्रकार ईश्वर निर्मित पदार्थ तो पदार्थ ही रहते हैं जीव उनकी सत्ता भोग्य तथा प्रेय के रूप में स्थापित करता है। अन्न और उनकी अन्नता में भेद का संभवतः ऐसा ही अभिप्राय है।

कतिपय दृष्टांतों द्वारा इस भेद को और अधिक स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है : आकाश से लेकर समस्त स्थूल भौतिक पदार्थ ईश्वर–रचित हैं। स्वर्ण एक पदार्थ है। अपने आप में वह मात्र स्वर्ण है। ज्ञाता व्यक्ति की बुद्धि वृत्तियों के अनुसार वह भोग का विषय बनता है। लोलुप व्यक्ति उसे पाकर सुखी होता है, दूसरा उसे न पाने से दुखी या क्रोधित होता है तथा निस्पृह व्यक्ति पाने से न सुखी होता है और न ही न पाने से दुखी होता है। एक ही विषय भोग और भोक्ता के भेद के नाते भिन्न–भिन्न रूप धारण कर

लेता है। स्वरूपतः तो वह वही रहता है किन्तु भोक्ता जीव के कारण उसके रूप भिन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार एक स्त्री, पत्नी, पुत्री, माता आदि विभिन्न रूपों में जानी जाती है किन्तु जहाँ तक उस स्त्री के स्वरूप या आकार का प्रश्न है वह तो वही रहता है। विभिन्न संबंध उसके रूप या आकार में कोई परिवर्तन नहीं करते। वस्तुतः एक ही स्त्री में दो स्त्रियाँ विद्यमान रहती हैं : एक वह जो मज्जा–मांस से निर्मित है। वह स्त्री ईश्वर की रचना है। दूसरी वह, जो जीव निर्मित है : वह मानसिक स्त्री है। मानसिक स्त्री स्वरूपतः शारीरिक स्त्री से भिन्न नहीं है। किन्तु प्रतीत होती है। एक ही स्त्री की भिन्न रूपों में प्रतीति होने के लिए आवश्यक है कि उस स्त्री में भिन्नता हो। यह भिन्नता उसके भौतिक स्वरूप के कारण नहीं है : भिन्नता का कारण उसका मानसिक स्वरूप है और वह स्वरूप जीव द्वारा निर्मित है।[14] दृष्टांतगत स्त्री के, तथा सामान्यतः किसी वस्तु के, मानसिक रूप में भेद दृष्टिगोचर होता है। इसलिए तर्कतः उस भेद की विद्यमानता स्वीकार की जानी चाहिए। सांख्य दर्शन में भी गुणों की भिन्नता के आधार पर पदार्थ की प्रतीति में भिन्नता की गई है किन्तु सांख्य एवं अद्वैत की स्थिति में अंतर है। सांख्य की प्रकृति त्रिगुणात्मिकता है और सभी पुरुष इन्हीं गुणों के वशीभूत होकर जब बस्तुओं को देखते हैं तो वस्तुयें उनमें भिन्न–भिन्न अनुभूतियाँ उत्पन्न करती हैं। अद्वैत मत के अनुसार जीव अपने सचेतन प्रयोजनों और प्रतिक्रियाओं द्वारा मनोमय पदार्थ (अभ्यर्थ) की रचना करता है।

इस अवधारणा के विरूद्ध यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि जाग्रतावस्था में उपलब्ध वास्तविक पदार्थों की सत्ता में मानसिक पदार्थों की सत्ता को जोड़ना कहाँ तक उचित है। यह सही है कि मानसिक पदार्थ अनुभव में उपलब्ध होते हैं किन्तु जब भ्रम, स्वप्न अथवा मानसिक स्वैरणा की स्थितियों में मानसिक पदार्थों का अनुभव होता है, तब वास्तविक पदार्थों का अनुभव नहीं होता है। इसका आशय यह है कि जब वास्तविक पदार्थ उपलब्ध नहीं होते तब मानसिक पदार्थ उपलब्ध हो सकते हैं क़िन्तु जब जाग्रत जीवन तथा जगत् में वास्तविक पदार्थ उपलब्ध होते हैं तब मानसिक पदार्थ नहीं होते और उनके होने की आवश्यकता या अनिवार्यता नहीं होती। इस आपत्ति का उत्तर अद्वैत ज्ञानमीमांसा में देखा जा सकता है। अद्वैत वेदांत के अनुसार ज्ञान की अवस्था में चित्त अथवा अन्तःकरण मन–पदार्थ संपर्क से विषय तक पहुँचता है। ऐसा होने पर चित्त की वृत्ति विषय का आकार ग्रहण कर लेती है। जिस प्रकार जब कोई धातु गला कर किसी साँचे में ढाली जाती है तो उसी साँचे के आकार की हो जाती है उसी प्रकार

चित्तवृत्ति भी विषयाकार हो जाती है अथवा जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश प्रकाशित घटाकार हो जाता है उसी प्रकार विषयों को प्रकाशित करने वाली बुद्धि प्रकाशित विषयाकार हो जाती है। इसीलिए यद्यपि यह सही है कि प्रत्यक्ष की दशा तें बाह्य पदार्थ की विद्यमानता है किन्तु चूँकि पदार्थ बुद्धिवृत्ति के आकार में प्रकाशित होता है इसलिए वह मानसिक या मनोमय है। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण की दशा में ज्ञेय पदार्थ द्विविध होता है– वास्तविक तथा मनोमय। उदाहरणार्थ घट के प्रत्यक्ष की दशा में एक तो मृण्मय घट होता है जो कि वास्तविक है तथा प्रत्यक्षात्मक क्रिया के बाहर है। इसके अतिरिक्त एक दूसरा घट भी है जो कि घटाकार बुद्धिवृत्ति के रूप में प्रत्यक्ष होता है। स्वामी विद्यारण्य इस भेद को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं : वास्तविक मृण्मय घट ज्ञाता द्वारा प्रकाशित है वह प्रमाताभास्य है, मनोमय घट साक्षी द्वारा प्रकाशित है, वह साक्षीभास्य है। वास्तविक मृण्मय घट इस अर्थ में प्रमाताभास्य है कि वह साक्षी द्वारा वृत्तिज्ञान से प्रकाशित है। मनोमय घट इस अर्थ में साक्षीभास्य है कि वह साक्षी द्वारा साक्षी के भीतर उद्भूत होने वाली आंतरिक वृत्तियों से उत्पन्न है। इच्छा, स्वप्न, सुख–दुःखादि से संबद्ध मनोमय पदार्थ साक्षी के भीतर प्रार्दुभूत तथा साक्षी द्वारा प्रकाशित अंतःवृत्ति के परिणाम हैं। सारांश यह है कि प्रमाताभास्य वस्तु वास्तविक है तथा साक्षीभास्य वस्तु मनोमय है।[15]

ईश्वरकृत तथा जीवकृत द्वैतमूलक जगत् के भेद का संकेत श्रुतियों में कई स्थलों पर उपलब्ध है। ऐतरेयोपनिषद् में कहा गया है : प्रारंभ में केवल आत्मा ही था। क्रिया हेतु कुछ भी नहीं था। आत्मा ने जगत् की रचना करने की इच्छा की। जब सभी लोकों तथा उनके दवेताओं की रचना हो गई, जब उनके लिए भोज्य पदार्थ निर्मित हो गये, जब जीव–शरीरों की रचना हो गई और जब उन्होंने भोजन ग्रहण करना सीख लिया तब आत्मा ने जीवों के शरीर में प्रवेश किया क्योंकि उसके बिना जीवन संभव नहीं था। जब ईश्वर ने जीवों के शरीर में प्रवेश कर लिया तब जीव ने जाग्रतावस्था से लेकर मोक्ष पर्यन्त स्वयं अपने जगत् की रचना की।[16] मुण्डक तथा प्रश्न उपनिषदों में भी सृष्टि प्रक्रिया तथा ईश्वर एवं जीव रचित जगत् के विवरण उपलब्ध हैं। यहाँ यह रेखांकित करना वांछनीय है कि सभी श्रुतियाँ सृष्टि–प्रक्रिया का एक समान विवरण नहीं देती किन्तु सभी का मूल मंतव्य एक है कि ईश्वर ही जगत् का कारण है जो कि अंततः मिथ्या है : ईश्वर निर्मित जगत् के ऊपर स्वयं जीव एक अपने जगत् की रचना करता है जो कि उसके मोक्ष में बाधक है।

निराकरणीय द्वैत

उपर्युक्त विवेचित दोनों द्वैतों की तात्त्विक स्थिति में भेद है। ईश्वर रचित द्वैत प्रयोजन एवं मूल्य की दृष्टि से तटस्थ है। इसलिए उसके होने मात्र से सुख–दुख तथा बंधादि का आर्विभाव नहीं होता। जीव–रचित द्वैत के होने से सुख–दुखादि का आविर्भाव होता है और उसी के न होने से सुख–दुखादि का तिरोभाव होता है। अतएव इन दोनों द्वैतों में जीवकृत द्वैत बंधादि का कारण होने से हेय है। अन्वय–व्यतिरेक विधि द्वारा इसे प्रमाणित किया गया है। जब अनूकूल अथवा प्रतिकूल पदार्थों के रूप में मानसिक द्वैत उपस्थित होता है तब सुख अथवा दुख भी उत्पन्न होते हैं। स्वप्न, स्मृति अथवा भ्रम की अनुभूतियाँ इस तथ्य की पुष्टि करती हैं। इन अवस्थाओं में जबकि वास्तविक पदार्थ अनुपस्थित होते हैं, सिंह, सर्प अथवा स्त्री के रूप में अवास्तविक मनोमय पदार्थ उपस्थित होकर अपनी अनुकूलता या प्रतिकूलता के नाते सुख अथवा दुख तथा सुषुप्ति की दशाओं में, जब कोई भी पदार्थ नहीं देखा जाता, सुख या दुख का अनुभव नहीं होता। ईश्वर–कृत पदार्थ अनुकूल या प्रतिकूल नहीं होते : ये तो बस होते हैं। अनुकूलता या प्रतिकूलता का समावेश बुद्धि वृत्ति करती है। स्वामी विद्यारण्य इसे तमाम दृष्टांतों से समझाते हैं। एक दृष्टांत इस प्रकार है :

"किसी पिता का पुत्र विदेश में सुख पूर्वक रह रहा है। कोई व्यक्ति उसे आकर बताता है कि उसके पुत्र की मृत्यु हो गई है जबकि वस्तुतः वह जीवित है। इस समाचार से पिता दुःखी होता है और रोता है। वह वास्तविक नहीं अपितु मनोमय पुत्र की मृत्यु पर रोता है। इसके विपरीत यदि उसका पुत्र वस्तुतः मर गया है किन्तु उसका समाचार उसे नहीं मिलता तो वह सुखपूर्वक रहता है। अभिप्राय यह है कि मानवकृत जगत् ही उसे सुखी या दुखी करता है।"[17]

जीवकृत द्वैत दो प्रकार का है : शास्त्रीय तथा अशास्त्रीय। श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन शास्त्रीय द्वैत है। यह द्वैत जीव की इस कल्पना पर आधारित है मानो कि ब्रह्म सर्वथा अविषय है। उपचार मात्र से उसे श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन विषय कहा जाता है। ये शास्त्रीय उपाय जीव को ब्रह्मज्ञान के द्वार तक ही ले जा सकते हैं। ब्रह्मज्ञान अनुत्पाद्य है। इसीलिए शास्त्रीय उपायों से वह उत्पन्न नहीं होता। इच्छा, क्रोध, द्वैषादि अशास्त्रीय द्वैत हैं। इन दोनों द्वैतों में अशास्त्रीय द्वैत का निरास ब्रह्मज्ञान के साथ हो जाता है। हम पहले कह आये हैं कि शंकराचार्य ने लौकिक तथा वैदिक दोनों व्यवहारों को अविद्याजन्य कहा है। मोक्ष हेतु विधि–निषेध का प्रदिपादन करने वाली श्रुतियाँ भी अंततः मिथ्यात्व के ही अंतर्गत हैं।

इस बिन्दु पर यह प्रश्न उपस्थापित किया जा सकता है कि यदि मनोमय जगत् ही बंधादि का कारण है तो वास्तविक बाह्य जगत् को स्वीकार करने की आवश्यकता या प्रयोजन ही क्या है। यदि मनोमय ही अनर्थों का मूल है और निराकरणीय है तो योगाचार बौद्धमत ही समीचीन है। किन्तु यह प्रश्न संगत नहीं है। शंकराचार्य ने बलपूर्वक योगाचार मत का खंडन करते हुए यह स्थापित किया है कि वस्तु के अभाव में बुद्धि वस्तु के विज्ञान का रूप नहीं ग्रहण कर सकती। इसके अतिरिक्त, यदि मोक्ष हेतु वाह्य जगत् का कोई प्रयोजन न भी हो, उसकी सत्ता निराधार नहीं कही जा सकती। प्रत्यक्ष में हमें वस्तु का अनुभव होता है : इस नाते नहीं कि वस्तु का कोई प्रयोजन होता है बल्कि इस नाते कि वस्तु के कारण ही वस्तु का प्रत्यक्ष होता है। अतएव बाह्यजगत् अपने बल से अथवा ईश्वरकृत होने से, सत्तावान है और मोक्ष हेतु इसके निरास की आवश्यकता भी नहीं है। जो बंधन का कारण है, वही निराकरणीय है। ईश्वर की सृष्टि अथवा जगत् का द्वैत बंधन का कारण नहीं है। जीव कृत जगत् या मनोमय द्वैत बंधन का कारण है और वही निराकरणीय है। पुनः यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि यदि ईश्वरकृत द्वैत निरस्त नहीं हो सकता तो अद्वैत ज्ञान कैसे संभव है और श्रुतियों के इस कथन का अर्थ कैसे निर्धारित होगा कि ज्ञाते द्वैतं न विद्यते? स्वामी विद्यारण्य इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं "ईश्वरकृत द्वैत अद्वैत ज्ञान में बाधक न होकर साधक है क्योंकि शास्त्र एवं गुरु के रूप में रचित द्वैत अद्वैत ज्ञान को सुगम बनाता है। इसके अतिरिक्त ईश्वरकृत आकाश आदि द्वैत का निराकरण हो नहीं सकता। इसीलिए आवश्यक यह है कि ईश्वरकृत द्वैत के मिथ्यात्व को समझा जाये। इसके निराकरण के प्रयास की कोई आवश्यकता नहीं है। वह भय या पलायन का विषय नहीं है।"[18]

ईश्वरकृत द्वैत की यह अवधारणा द्वैत निरास को समझने की कुंजी है और नैतिक–सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। हमें इसी जगत् में रहना है। हमारा प्रयास इसके मिथ्यात्व को समझने पर केन्द्रित होना चाहिए न कि इसके निराकरण पर। अद्वैत वेदांत के इसी विचार के समानान्तर विचार हमें कांट के दर्शन में भी दिखायी देते है। अनुभवातीत भ्रम की व्याख्या करते हुए कांट कहता है कि अनुभवातीत भ्रम का अधिष्ठान स्वयं मानव बुद्धि (रीजन) है। स्वाभाविक होने के नाते वह बार–बार मानव बुद्धि को भ्रमित करता रहता है। आत्मचेतन मानव बुद्धि केवल अनुभवातीत भ्रम को समझ सकती है और इसी अर्थ में वह अपने को उससे भ्रमित होने से बचा सकती है।[19]

अब हम इस लेख के प्रारंभ में उठाये गये अपने मूल प्रश्न पर एक बार पुनः लौटते हैं। हमने प्रश्न उठाया था : ब्रह्म में अधिष्ठित बाह्य जगत् का निरास कैसे हो सकता है ? अपने विवेचन से जो उत्तर हमें प्राप्त हुआ वह यह है कि बाह्य जगत् के निरास की आवश्यकता नहीं है, केवल उसके मिथ्यात्व का ज्ञान होना चाहिए और अद्वैत वेदांत के प्रायोजनों के लिए यह पर्याप्त है। हमने पुनः यह प्रश्न उठाया था कि जब अनुभव में द्वैत का तिरोभाव नहीं देखा जाता तब उस तिरोभाव का क्या अर्थ है। इस प्रश्न का हमें यह उत्तर मिला कि अद्वैत वेदांत द्वारा जिस द्वैत का तिरोभाव अपेक्षित है वह जीवकृत द्वैत है। यह द्वैत मनोमय है जिसका जन्म जीव के ज्ञान और क्रिया से होता है। यही द्वैत बंधन का कारण है और अद्वैत ज्ञान से इसी का निरास होता है। संक्षेप में, ईश्वरकृत द्वैत के मिथ्यात्व का ज्ञान होना चाहिए और जीवकृत द्वैत का निरास होना चाहिए। जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान उसका निरास नहीं है। मिथ्यात्व के ज्ञान का तात्पर्य यह है कि अब वह हमें भ्रमित नहीं करता अर्थात् अब हम यह विश्वास नहीं करते कि ब्रह्म से अन्य जगत् की सत्ता है। जीवकृत द्वैत का निरास हो जाता है क्योंकि उसका मूल जीव की संकल्प–बुद्धि है और अद्वैत–सम्मत अनुशासन के अभ्यास से संकल्प–बुद्धि की वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। जीवकृत द्वैत के निरास से ही जीवन मुक्ति की स्थिति उत्पन्न होती है। जीवनमुक्त व्यक्ति जीवकृत द्वैत का अतिक्रमण करके तथा ईश्वरकृत द्वैत के मिथ्यात्व को समझकर अद्वैत की स्थिति प्राप्त कर लेता। ऐसा व्यक्ति आत्मकाम हो जाता है तथा स्थितिप्रज्ञ के रूप में लोकसंग्रह हेतु सक्रिय जीवन व्यतीत करता है।

द्वैत की फेनामेनालॉजी

पश्चिम के दार्शनिकों ने भी विभिन्न तरीकों से जगत् की व्याख्या करने का प्रयास किया है। अपने प्रयोजन की दृष्टि से हम एडमण्ड हुसर्ल की फेनोमेनालॉजिकीय पद्धति का संक्षिप्त उल्लेख करके यह दिखाना चाहेंगे कि अद्वैत वेदांत के द्वैतनिरूपण में फेनोमेनालॉजिकीय पद्धति का एक अति श्रेष्ठ रूप उपलब्ध है। हुसर्ल जगत् के प्रदत्त स्वरूप को ज्यों का त्यों स्वीकार करने के बजाय उसके मूल स्वरूप को या उसकी प्रदत्तता की शर्तों को समझना चाहता है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए वह जगत् को कोष्ठीकृत करके चेतना की विषयापेक्षी क्रियाओं का अनुसंधान करता है। वस्तु के प्रत्यक्ष या प्रतीति में चेतना की विषयापेक्षी क्रिया अनिवार्यतः विद्यमान होती है और वस्तु के वस्तुत्व का रहस्य उसी में निहित होता है।

इसलिए वस्तु–जगत् को समझने के लिए हुसर्ल वस्तु–जगत् को अपने अनुसंधान से कुछ समय के लिए बाहर कर देता है और चेतना की आंतरिक क्रियाओं का विश्लेषण करता है। विश्लेषण की इस प्रक्रिया में हुसर्ल क्रमशः वस्तु जगत् से दूर होता जाता है तथा उसके फेनोमेनालॉजिकीय अन्वेषण की परिणति अनुभवातीत आत्मा की स्थापना में होती है। प्रारंभ में कोष्ठीकृत हुआ जगत् पुनः विचार के लिए प्रस्तुत नहीं होता और इस तरह फेनोमेनॉलाजी का अंत अनुभवातीत प्रत्ययवाद में होता है।[20] अद्वैत वेदांत में फेनोमेनालॉजी का जो रूप मिलता है उसे हुसर्ल की "सतही फेनोमेनालॉजी" की तुलना में "आध्यात्मिक फेनोमेनालॉजी" कहा जा सकता है।[21] अद्वैत फेनोमेनालॉजी सही अर्थों में समग्र अनुभव की फेनोमेनालॉजी है। वह विषयी तथा विषय दोनों की फेनोमेनालॉजी है। उसके अनुसार जो विषयी का सत्य है वही विषय का भी सत्य है। यद्यपि हुसर्ल ने जागृत जीवन में अनूभूत विषयों के अतिरिक्त स्मृति, स्वप्न, कल्पना आदि में भी अनुभूत विषयों को वस्तु रूप में स्वीकार किया है किन्तु इसके विश्लेषण की सीमा जागृत अनुभव की ही चेतना है। अद्वैत फेनोमेनालॉजी जागृत जीवन के अतिरिक्त स्पप्न तथा सुषुप्ति की चेतनाओं का विश्लेषण करती हुई अंततः उनकी आधारभूत तुरीय चेतना तक जाती है। जागृतावस्था की चेतना का विषय वास्तविक पदार्थ होते हैं, स्वाप्निक चेतना के विषय मानसिक पदार्थ होते हैं तथा सुषुप्ति दशा में चेतना की विषयापेक्षी क्रिया स्थगित होती है। तुरीय चेतना विषयापेक्षा से रहित शुद्ध चेतन सत्ता के रूप में अवस्थित होती है। माण्डूयकारिका तथा ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य के तत्पदार्थशोधन एवं त्वंपदार्थशोधन में विषयी तथा विषय दोनों की फेनोमेनालॉजी का उत्कृष्ठ रूप देखने का मिलता है। इस विश्लेषण में समस्त प्रपंचात्मक सत्ता अंततः शुद्ध चेतन–सत्ता अथवा ब्रह्म में न्यूनीकृत हो जाती है जिसमें विषयापेक्षी प्रवाह नहीं होता।

द्रष्टव्य है कि हुसर्ल का उद्देश्य दर्शनशास्त्र को एक सुदृढ़ विज्ञान बनाना तथा समस्त ज्ञान एवं प्राकृतिक विज्ञानों को तार्किक आधार प्रदान करना था। इस उद्देश्य तक पहुँचने के लिए प्रदत्त प्राकृतिक जगत् में अनालोचनात्मक विश्वास को स्थगित करना आवश्यक था। हुसर्ल का फेनोमेनालॉजिकीय अनुसंधान दो संसारों का उद्घाटन करता है : एक, असंरचित जगत् तथा दूसरा संरचित जगत्। हुसर्ल का उद्देश्य संरचित जगत् के विश्लेषण से ही पूरा हो जाता है। अद्वैत फेनोमेनालॉजी और गहराई में जाती है। हुसर्ल की भाँति उसमें भी दो प्रकार के जगत् उद्घाटित हैं : संरचित जगत्, जो कि जीवकृत द्वैत है तथा असंरचित जगत्, जो कि ईश्वर

कृत द्वैत है। अद्वैत वेदांत के लिए संरचित अथवा जीवकृत द्वैत का विवेचन जितना आवश्यक है उतना ही असंरचित अथवा ईश्वरकृत द्वैत का भी, दोनों जगत् या द्वैत अविद्याजन्य हैं। एक अविद्या विश्व–अविद्या है और दूसरी व्यष्टि–अविद्या। विश्व–अविद्या के ज्ञान से ईश्वरकृत जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान होता है तथा व्यष्टि–अविद्या के ज्ञान से जीवकृत प्रपंचात्मक जगत् का निरास होता है। दोनों प्रकार के ज्ञान अंततः यह उद्घाटित करते हैं कि समस्त प्रतीयमान द्वैत का आधार आत्मा अथवा ब्रह्म है जो कि शुद्ध चैतन्य, शुद्ध सत्ता तथा आनन्द स्वरूप है और उसका कोई विषयापेक्षी सहवर्ती नहीं होता। हुसर्ल ने भी अनुभवातीत आत्मा तथा इन्द्रियानुभाविक आत्मा में भेद किया है किन्तु विश्लेषण की प्रक्रिया में वह इस भेद के पूर्ण निहितार्थों को स्थापित नहीं कर पाता और कभी–कभी वह इसे विस्मृत भी कर देता है।[22] अद्वैत वेदांत में इस भेद पर भली–भाँति शोध किया गया है और यह स्थापित किया गया है कि दोनों आत्मा वस्तुतः एक ही है। वस्तु–जगत् के द्वैत में निमग्न आत्मा (जीव) तत्त्वतः ब्रह्म है : बाह्य जगत् के रूप में प्रतीयमान द्वैत तत्त्वत ब्रह्म से अनन्य है।

ईश्वरकृत द्वैत तथा जीवकृत द्वैत के उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं : ईश्वर ने जगत् के द्वैत की रचना की। यह द्वैत मिथ्या है किन्तु यह निरापद है किंवा अद्वैत ज्ञान में साधक है। जीव अपने ज्ञान तथा कर्म द्वारा ईश्वर रचित द्वैत पर अपने द्वारा रचित एक अन्य द्वैत खड़ा करता है। यही द्वैत अनर्थों का कारण तथा बंधनकारी है। यही द्वैत निराकरणीय है। हम अपने इन्द्रियानुभविक जीवन में अनेक प्रकार के भेदों की रचना करते हैं तथा इन्हें मूल्य प्रदान करके उनके प्रति आसक्त होते हैं। किन्तु वे मिथ्याजगत् की पूर्वस्वीकृत वास्तविकता पर आधारित मिथ्या मूल्य होते हैं। इस द्वैत तथा इसके आधारभूत सत्य के ज्ञान से न केवल अद्वैत ज्ञान रूप मोक्ष की उपलब्धि होती है अपितु उसी से अनाशक्त जीवन जीने की कुंजी भी प्राप्त होती है। यह अद्वैत दृष्टि एक सुन्दरतम विश्व के निर्माण की आधारशिला है जिसका संचालन आपसी समझ और सौहार्द, प्रेम तथा सहानुभूति, करुणा तथा समानता जैसे सद्गुणों से होगा। द्वैत निरास तथा अद्वैत की स्थापना का यह व्यावहारिक पक्ष है।

2/24, सहारा स्टेट्स,
खोराबार, गोरखपुर - 273008

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. अभ्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेय व्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि। उपोद्‌घात, ब्रह्मसूत्रशांकर भाष्य
2. वस्तुतंत्रमेव तत्, वही, 1.1.4
3. गीता 2.16
4. ईश्वरेनापि जीवने सृष्टं द्वैत विविच्यते। विवेके सति जीवने हेयो बंधः स्फुटीभवेत्।। पंचदशी, 4.1
5. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 1.1.22
6. न ब्रूमो यस्मिन्नचेतने प्रवृत्तिद्‌देश्यते न तस्य सेति। भवतु तस्यैव सा। वही, 1.2.13
7. तैत्तिरीय उपनिषद् 2.1.
8. वही 2.6
9. मुण्डकोपनिषद् 2.11
10. कृत्वा रूपांतरं जैवं देहे प्राविशदीश्वरः। इति ताः श्रुतयः प्राहुर्जीवतं प्राणधारणात।। पंचदशी, 4.10./प्राणधारणात्
11. बृहदारण्यकोपनिषद् 1.5.1–2.
12. ईशेन यद्यप्येतानि निर्मितानि स्वरूपतः। तथापि ज्ञानकर्मभ्याम् जीवो कार्शीत दन्नताम्।। पंचदशी, 4.17
13. सार्त्र, बीईंग एंड नथिंगनेस (अनु. हैजेज बान्से) लन्दनः मेथ्यून ऐंड कं. लि. 1969
14. मैवम् मांसमयी योषिकत् काचिदन्या मनोमयी। मांसमय्याऽभेदेपि भिद्यते हि मनोमयी।। पंचदशी 4.25
15. सत्यमेवम् विषयौ द्वौस्तो घटौ मृण्मयधीमयौ। मृण्मयो मानमेयः स्यात् साक्षिभास्यतु धीमयः।। वही, 4.31
16. ऐतरेयोपनिषद 1.1
17. पंचदशी 4.32–35
18. अबाधकं साधकं च द्वैतमीश्वरनिर्मितम्। अपनेतुमशक्यं चेत्यास्ताम् तद् द्विष्यते कुतः।। वही, 4.42
19. कांट, क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन, बी. 355,ए 298
20. मिश्र, सभाजीत, द ऐंग्विश्ड फ्रीडम, अलीगढ़ : एस. के. पब्लिशर्स, 2004 पृ.32
21. बाल सुब्रमण्यम, आर. फेनोमेनालॉजी ऑफ कांशसनेस, नयी दिल्ली : आई. सी. पी. आर. प्रकाशन 2003, पृ. 14
22. द्रष्टव्य हुसर्ल, पेरिस लेक्चर्स (अनु. पीटर कोएस्टेनबाम) द हेग : मार्निटनस निजाफ, 1970, पृ. 15

भारतीय व्याख्या-पद्धति की रूपरेखा

अम्बिकादत्त शर्मा

भारत में निगमागमिक शास्त्र परम्परा अपने मूल स्वरूप में पौरुषापौरुषेय जो भी रही हो लेकिन इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि वह दीर्घकाल तक ब्रह्मा द्वारा उपदिष्ट और पुनः ऋषि–मुनियों की प्रातिभ अन्तर्दृष्टि से निष्कृष्ट होकर वाचिक परम्परा में पोषित और पल्लवित होती रही है। भारतीय वाङ्मय में 'ब्रह्मा' आदि देव के नाम से प्रसिद्ध हैं और उन्हें ही समस्त प्रधान–भूत शास्त्रों, विद्या–स्थानों का आद्य शास्ता कहा जाता है। शास्ता का अर्थ शासनकर्त्ता होता है। इसीलिए समस्त विद्याओं के मूल ग्रंथ शास्त्र अथवा शासन कहे जाते हैं। ब्रह्मा के द्वारा उपदिष्ट शास्त्रों के अतिविस्तीर्ण होने के कारण इन्हें तंत्र भी कहते हैं। उत्तरवर्ती ऋषि–मुनियों ने ब्रह्मोपदिष्ट शास्त्रों को ही संक्षिप्त और स्वकालोपयोगी बनाया है। भारतीय परम्परा में तत्तद शास्त्रों को तत्तद ऋषियों द्वारा प्रोक्त कहे जाने के पीछे यही आशय रहा है। प्रोक्त का लक्षण है–यत्तेन प्रोक्तं न च तेनकृतम्। अर्थात् अन्य के द्वारा उपदिष्ट अथवा कृत का विशेष प्रवचन।[1] ब्रह्मा द्वारा उपदिष्ट वाङ्मय (दिव्यं वर्ष सहस्रं प्रोवाच् न चान्तम जगाम्) शास्त्र, शासन और तंत्र नाम से अभिहित होने के कारण ही उत्तरकालिक ऋषि–मुनियों द्वारा प्रोक्त वाङ्मय को अनुशास्त्र, अनुशासन और अनुतंत्र कहा जाता है।

I

अतएव भारतीय पुराकथा की उपयुक्त मान्यता के आलोक में यह कहा जा सकता है कि भारतीय परम्परा में शास्त्रों को वाङ्मय–विग्रह रूप में प्रस्तुत किया जाना एक परवर्ती घटना है। यह बात अलग है कि इसका इतिहास भी यहाँ बड़ा ही चमत्कारी रहा है। अवधेय है कि प्रारम्भ में ऋषि–मुनियों द्वारा अनुशास्त्रों, अनुतंत्रों को वागविग्रह रूप प्रदान करते हुए ग्रंथ–रचना जैसे कार्यों को बहुत पुरस्कृत नहीं समझा जाता था। इसलिए निरुक्तकार यास्क ने वैसे ऋषियों को अवर कोटि का माना है जिन्होंने सत्य

दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, में 11–13 जनवरी 2011 पर्यन्त आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी "टेक्स्ट एण्ड इण्टरप्रेटेशन : इण्डियन कान्टेक्स्ट" में दिये गये व्याख्यान का परिष्कृत रूप।

(धर्म) का स्वयं साक्षात्कार नहीं किया बल्कि उसका ग्रहण उपदिष्ट रूप से किया है।[2] पुनः यास्क ने अवर ऋषियों पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि जिन्होंने स्वयं सत्य (धर्म) का साक्षात्कार नहीं किया वही उपदिष्ट शास्त्रों और मंत्रों को लेकर ग्रंथ रचना किया करते थे।[3] आश्चर्य है कि भारतीय परम्परा में ग्रंथ–रचना के प्रति यास्क से ही मिलती–जुलती बातें भगवान बुद्ध ने भी कही हैं। बुद्ध का कथन है कि "वे (ब्राह्मण) जो जंगलों में पर्णकुटी बनाकर वहीं ध्यान आदि कर्म किया करते थे, उनमें से कितने ध्यान को सिद्ध न कर सकने के कारण ग्राम अथवा निगम के पास आ कर ग्रंथ रचना करते हुए नागर जीवन व्यतीत करने लगे। पहले वह नीच कर्म समझा जाता था लेकिन आज वही श्रेष्ठ कर्म समझा जाने लगा।"[4]

इस प्रकार उपयुक्त संदर्भों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय परम्परा में एक समय तक ग्रंथ–प्रणयन का कार्य श्रेष्ठ कर्म के रूप में गणनीय नहीं था। वास्तव में देखा जाय तो ग्रंथों के रचना कर्म के प्रति ऐसी निंदा और कुछ नहीं बल्कि शास्त्र परम्परा और उसके अन्तर्गत विभिन्न बौद्धिक परम्पराओं के अलिखित रूप 'वाचिक परम्परा' का ही घोर समर्थन है। ऐसा लगता है जैसे उपदिष्ट शास्त्र परम्परा को लिपिबद्ध वागविग्रह रूप में प्रस्तुत करना उन्हें दूषित कर देना है। शास्त्रों को अपौरुषेय मानने वाले, उसे दूषण मानते ही हैं। पाणिनिय शिक्षा में लिखित पाठ के पठन को अधम पठन कहा भी गया है (षडेते पाठकाधमा)। महाभारत में तो स्पष्ट रूप से वेदों को लिपिबद्ध करने वालों तथा वेदपाठ को दूषित करने वालों की घोर निंदा निरयगामी रूप से की गई है।[5] ऐसी स्थिति में श्रुत परम्परा और वाचिक परम्परा के प्रति आग्रहवान होना स्वाभाविक ही लगता है। वस्तुतः शास्त्र परम्पराओं के वाचिक रूप में प्रवाहमान होने की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि उस रूप में बौद्धिक परम्परायें जीवनानुभव से जुड़कर नैष्ठिक रूप धारण की हुई रहती हैं। आज भी भारत में कुछ एक ऐसे परिवार मिल जायेंगे जो वाचिक परम्परा से विभिन्न विद्याओं के आजीवन अभ्यास को अपना स्वधर्म समझते हैं। परन्तु उसकी सबसे बड़ी खामी यह होती है कि उस रूप में बौद्धिक परम्परायें सम्प्रदाय केन्द्रित नैष्ठिकता और गोपन के चलते अपने आप में ही रूढ़ हो कर आन्तर–साम्प्रदायिक स्वस्थ संवाद के अभाव में आत्ममुग्धता का शिकार हो जाती हैं। भारत–प्रभव निगमागमिक शास्त्र परम्पराओं और उनके उपवृंहण रूप विभिन्न बौद्धिक परम्पराओं के वैचारिक प्रचार–प्रसार एवं विकास में इस प्रकार के प्रभावों को बहुत दूर तक देखा जा सकता है।

इसके विपरीत दूसरी तरफ हम देखते हैं कि भारतीय परम्परा में ही वाचिक रूप से प्रवाहमान शास्त्र–परम्पराओं को 'वागविग्रह' रूप में ग्रंथ–ग्रंथित करने के प्रयासों को अतीव महत्त्व भी प्रदान किया गया है। यहाँ तक कि ब्राह्मण परम्परा में सूत्रकार जिसे शास्त्रों का 'आद्य–वागविग्रह–कर्त्ता' कहा जा सकता है उसे भगवान् पद से महिमा मण्डित किया गया है।[6] इस संदर्भ में कुछ अन्यों को 'ओह ब्रह्म' की संज्ञा दी गई है।[7] वैसे ही श्रमण (बौद्ध) परम्परा में विभिन्न संगीतियों का अत्यन्त समारोह के साथ आयोजन कर बुद्ध–वचनों के सांगायन के लिए किये गये प्रयासों का महत्त्व सर्वविदित ही है, क्योंकि सांगायन से पूर्व वह सब श्रुत एवं वाचिक परम्परा का ही अंगभूत था। वाचिक रूप से शास्त्रों की प्रवाहमान धारा को प्रथमतया लिपिबद्ध वागविग्रह रूप में प्रस्तुत करने वाले सूत्रकार को इतना महत्त्व देने का निहितार्थ यह है कि वह एक ऐसा व्यक्ति होता है जो उपदिष्ट शास्त्रों से सर्वथा ओतप्रोत, उसे प्रातिभ स्तर पर आत्मसात् करने में समर्थ होता है। वास्तव में सूत्रों का महत्त्व भी यही है वह किसी शास्त्र परम्परा का बीजभूत वागविग्रह होता है। इसका निर्माण, यदि यास्क की तर्ज पर कहें तो, कोई अवर ऋषि अथवा श्रुतर्षि 'भावना प्रकर्ष पर्यन्त' ज्ञानस्थिति में ही कर सकता है। इसीलिए सूत्रों को बाद में व्याख्या कर्म के द्वारा खोलने की महती आवश्यकता होती है। द्रष्टव्य है कि त्रयध्विक शब्दों का अत्यन्त संश्लिष्ट रूप ही सूत्र होता है और व्याख्या कर्म के द्वारा वही विश्लिष्ट होता है। अतएव हम कह सकते हैं कि भारतीय परम्परा में 'सूत्र' ही किसी अनुशास्त्र या अनुतंत्र के लिखित रूप का आद्य–वागविग्रह होता है और उसी को आधारभूत एवं पूंजीभूत मानकर अनुशास्त्रों की लिखित परम्परा का विकास तथा उसकी वंशावली का निर्माण परवर्ती काल में भाष्य, वार्त्तिक, वृत्ति और अन्यान्य प्रकार की टीकाओं के माध्यम से हुआ करता है।

कुछ लोगों का यह भी मानना है कि सूत्र शैली का विकास विभिन्न शास्त्रों और विद्याओं को वाचिक परम्परा में ही बनाये रखने का उपक्रम था। ऐसा इसलिए कि सूत्रबद्ध अभ्यास के द्वारा स्मरण हानि से मुक्त विद्याओं को चिरकाल तक सुरक्षित रखना अपेक्षाकृत आसान होता है। एक बार सूत्र का अभ्यास हो जाने से उसका दृढ़ संस्कार जीवनभर बना रहता है। युक्तिदीपिकाकार ने सांख्य शास्त्र के संदर्भ में इस आशय को प्रकट करते हुए उचित ही कहा है कि कपिलोपदिष्ट इस महानशास्त्र का सम्यक् बोध सैकड़ों वर्षों में भी हो पाना संभव नहीं है, क्योंकि वह अत्यन्त विशाल है।

ऐसा सोच कर सूक्ष्म बुद्धि एवं निर्मल प्रज्ञा वाले मुनियों (सांख्याचार्यों) ने शिष्यों के हितार्थ उस शास्त्र को स्वल्प ग्रंथ के रूप में संक्षिप्त कर लिखा है।[8] यदि इस बात को स्वीकार भी कर लिया जाये तो यह मानने में कोई हानि नहीं कि भारतीय परम्परा में सूत्र ही किसी अनुशास्त्र परम्परा का आद्य–वागविग्रह होता है। पुनः इस संभावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि विभिन्न विद्याओं के सूत्र कुछ समय तक वाचिक परम्परा में ही प्रसिद्ध रहे हों और बाद में उन्हें व्यवस्थित और लिपिबद्ध किया गया हो। इसीलिए भारतीय परम्परा की अधिकांश विद्यायें अपने पूर्वतन रूप में सूत्रात्मक शैली में ही निबद्ध हैं। ज्ञात इतिहास की अनुमत सीमा में इस शैली का प्रथमतया विकास संभवतः व्याकरण परम्परा में हुआ प्रतीत होता हैं। पाणिनि परम्परा के सूत्रों को भारतीय सूत्र वाङ्मय में सर्वाधिक प्राचीन माना भी जाता है।[9]

II

भारतीय परम्परा में यद्यपि अनुशास्त्रों का आद्य–वागविग्रह सूत्रात्मक शैली में ही निबद्ध किया गया है तथापि सूत्रोपरि व्याख्यात्मक वागविग्रह रूप ग्रंथों के जितने प्रकार भारतीय वाङ्मय में प्राप्त होते हैं और उनके द्वारा जिस तरह से शास्त्र परम्पराओं को पल्लवित किया गया है वह किसी भी दूसरी अन्य परम्परा के लिए दुर्लभप्राय जैसी है। पाराशरोपपुराण के अठारहवें अध्याय में सूत्र से टीका पर्यन्त अनुशास्त्रों के लोकविस्तरण को बड़े ही रोचक ढंग से निरूपित किया गया है जो प्रकृत संदर्भ में अवश्य ही द्रष्टव्य है।[10] अतएव सर्वप्रथम सूत्र रूप वागविग्रह के तात्पर्य को ही यहाँ समझ लेना समीचीन होगा। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में सूत्र को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि अल्पाक्षर और असन्दिग्ध पदों से युक्त सारवद् और विश्वतोमुख ज्ञान–राशि ही सूत्र है जिसमें पुनरावृत्ति और क्रमभंग की संभावना नहीं रहती है।

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखं ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ।।

यद्यपि वैदिक साहित्य में भी गृह्य सूत्र, शुल्व सूत्र इत्यादि सूत्र ग्रंथ प्राप्त होते हैं तथापि पारिभाषिक रूप में सूत्र शैली और उनके प्रकार भेदों की चर्चा प्रथमतया व्याकरण परम्परा में ही प्राप्त होती है। मुग्धबोध की व्याख्या में दुर्गादास ने सूत्रों के छह प्रकारों का निर्देश किया है – संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश और अधिकार सूत्र।

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च ।
अतिदेशोऽधिकारश्च षडविधं सूत्र लक्षणम् ।।

यहाँ द्रष्टव्य है कि सूत्रों के इस प्रकार के भेदों का उपयोग प्रचुरतया व्याकरण शास्त्र में ही देखने को मिलता है। अन्य शास्त्रों के सूत्रों में इन सभी प्रकारों की उपलब्धि नहीं होती है। उदाहरण के लिए व्याकरण शास्त्र में वृद्धिरादैच् संज्ञा–विधायक सूत्र 'संज्ञासूत्र' कहलाते हैं। अव्यवस्था की स्थिति में व्यवस्था सम्पादक 'परिभाषा सूत्र' कहे जाते हैं (अनियमे नियमकारिणी परिभाषा)। उदाहरण के लिए 'तस्मिन्निति निर्दिष्ट पूर्वस्य' परिभाषा सूत्र है जिसके चलते सुध्युपास्य प्रयोग में इकार का यण् आदेश होता है और उकार का नहीं। इसी तरह 'इकोयणचि' का विधान करने वाले विधि सूत्र कहलाते हैं। 'कृतद्धित समासाश्च' नियम सूत्र है। विधि और नियम इन दोनों सूत्र–प्रकारों का प्रयोग मीमांसा परम्परा में भी देखने को मिलता है। मीमांसा शास्त्र के अनुसार विधायक विधि है और पाक्षिक विधायक नियम है।[11] ऐसे ही एक स्थल पर कही गई बात यदि प्रसंगवश अन्यत्र भी सम्बद्ध की जाती है तो उसे अतिदेश कहते हैं। अतः 'स्थानिवदादेशोऽनलविधो' अतिदेश सूत्र होता है। 'अधिकार सूत्र' वह है जिसके आधार पर किसी एक प्रकरण में एक ही प्रकार की प्रक्रिया चलती है। उदाहरणार्थ 'समर्थः' पद विधि है और इस सूत्र का अधिकार सम्पूर्ण समास प्रकरण में चलता है।

पुनः आयुर्वेद परम्परा में सूत्रों के प्रकार–भेद को दूसरे ढंग से निरूपित किया गया है। चरक संहिता की व्याख्या करते हुए डल्हण ने सूत्रों के चार भेद बताये हैं। इसमें पहला गुरू द्वारा निर्दिष्ट उपदेश 'गुरूसूत्र' है। एकदेशीय विचार 'एकीय सूत्र' से निर्दिष्ट होता है तथा ग्रंथ के प्रतिसंस्कर्त्ता द्वारा जोड़ा गया विचार 'प्रतिसंस्कृत सूत्र' कहा जाता है। वस्तुतः प्रतिसंस्कृत सूत्रों के द्वारा ही किसी प्रवर्द्धमान शास्त्र परम्परा में नवीन विचारों का समावेश होता है। इसीलिए कहा गया है[12] –

विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यति विस्तरम् ।
संस्कर्त्ता कुरुते तंत्रं पुराणं च पुनर्नवम् ।।

ऐसे ही न्याय दर्शन में सूत्रों के त्रिविध विभाग मिलते हैं। चूँकि न्याय दर्शन की विचार–प्रक्रिया में उद्देश, लक्षण और परीक्षा प्रणाली से पदार्थों का विवेचन हुआ है, इसलिए न्यायसूत्र का प्रथम सूत्र उद्देश सूत्र कहलाता है तथा प्रथम और पंचम अध्याय के सूत्र लक्षण सूत्र हैं। शेष तीन अध्यायों में

परीक्षा सूत्र निबद्ध हुए हैं। श्री लक्ष्मीपुरम श्रीनिवासाचार्य ने 'मानमेयरहस्य–श्लोकवार्तिक'[13] नामक अपनी कृति में किसी श्रुतप्रकाशिका नामक ग्रंथ को उद्धृत करते हुए सूत्र के तीन भेद बताये हैं।

सूत्रं त्रिविधं प्रायः पूर्वाचार्यैः निरूपितम् ।
उपदेशात्मकं त्वाद्यं व्याख्यानं तदनन्तरम् ।।
उपपादनशास्त्रं स्यात्तृतीयं न्यायपूर्वकम् ।

अर्थात् पूर्वाचार्यों ने उपदेशात्मक, व्याख्यानात्मक और उपपादानात्मक नामक सूत्रों के तीन प्रकार बताये हैं। वस्तुतः सूत्रों का इस प्रकार से विभाग उद्‌देश, लक्षण और परीक्षा का ही अनुवाद प्रतीत होता है क्योंकि उपदेशात्मक का अर्थ नाम संकीर्तन से है और व्याख्यान से स्वरूप परिचय अर्थात् लक्षण अभिप्रेत है तथा उपपादन तो परीक्षण विधि से ही होता है। इस प्रकार द्रष्टव्य है कि व्याकरण परम्परा, आयुर्वेद परम्परा और न्याय परम्परा में सूत्रों के जो भेद बताये गये हैं वह वास्तव में सूत्रों का स्वरूप भेद न हो कर विभाग–भेद है और यह विभाग–भेद संबद्ध शास्त्र के अर्थान्वयन में सहायक होता है। इनका नामकरण भी सम्बद्ध शास्त्रों की प्रकृति और प्रक्रिया के अनुरूप ही प्रतीत होता है।

III

इस तरह विभिन्न शास्त्रों की विचार–सरणी के अनुरूप सूत्रों के प्रकार अथवा विभाग–भेद चाहे जिस तरह से भी किये गये हों लेकिन इतना तो स्पष्ट ही है कि सूत्र अपने मूल स्वरूप में ज्ञान के घनीभूत रूप को धारण करने वाले अत्यन्त संश्लिष्ट शब्द–राशि हुआ करते हैं। सूत्रों की संश्लिष्टता को भाषायी संक्षेपीकरण के अर्थ में नहीं समझा जा सकता बल्कि किसी विचार को उसके मूल प्रत्यय में प्रत्यहृत करने के अर्थ में इसे समझा जाना चाहिए। जब कोई शास्त्र–परम्परा अपनी सम्पूर्ण वैचारिक–योजना के साथ सूत्र–संहति में प्रस्तुत होती है तो वास्तव में वह विचार की अत्यंत सघन संरचना होती है। इसीलिए सूत्रों को बाद में उसके निहितार्थ को उद्‌घाटित करने के लिए व्याख्यायित करना पड़ता है। पतंजलि ने उचित ही कहा है कि 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि संदेहादलक्षणम्' अर्थात् व्याख्या से विशेष अभिप्राय ज्ञात होता है। संदेह होने से विषय की असिद्धि या अशुद्धि नहीं होती। अतएव भारतीय परम्परा में सामान्य तौर पर सूत्रों को व्याख्यायित करने हेतु छह नियमों का विधान किया गया है। पाराशरोपपुराण[14] में इन छह नियमों और उनके क्रम का निरूपण इस प्रकार हुआ है –

पदच्छेद[15] पदार्थोक्ति विग्रहो वाक्ययोजना ।
आक्षेपश्च समाधानं व्याख्यानं षडविध मतम् ।।

अर्थात् पदच्छेद, प्रतिपाद्य का अभिकथन, व्युत्पत्ति का प्रदर्शन, वाक्य की योजना, आक्षेप (पूर्वपक्ष) और समाधान (उत्तरपक्ष) रूपी छह विधियों का अनुप्रयोग करते हुए किसी शास्त्र के उस ग्रंथ का व्याख्यान किया जाय जो सूत्रों की संहति में प्रस्तुत हुआ हो तो उस ग्रंथ का निहितार्थ सम्यक् रूप से उद्घाटित हो जाता है। व्याख्याकार सर्वप्रथम व्याख्येय प्रसंग के वाक्यों को पदों में बांटता है। इसी को पदच्छेद अथवा अन्वय कहते हैं। उदाहरण के लिए वाचस्पति मिश्र ने न्यायसूची निबन्ध में 528 न्याय सूत्रों का पदच्छेद करते हुए उसे 1966 पदों में बांटा है। फिर पदों में प्रातिपदिक और विभक्तियाँ होती हैं। इन दोनों के द्वारा कहे जाने वाले अर्थ की पहचान ही पदार्थोक्ति है। पुनः समासयुक्त पद, तद्धित प्रत्ययान्त पद और कृदन्त पद तथा नाम–धातु आदि के अपने पृथक् अर्थ होते हैं। इनका स्पष्टीकरण 'विग्रह' अथवा 'व्युत्पत्ति' के आधार पर होता है। व्याख्याकार के लिए यह भी अपेक्षित होता है कि वह अपनी दृष्टि से वाक्य–योजना भी करे। अवधेय है कि जहाँ क्रियापद या कर्त्ता आदि नहीं होते हैं वहाँ उनका अध्याहार करके वाक्य–योजना की जाती है। व्याख्येय प्रसंग में संदेह या पूर्वपक्ष की प्रस्तुति ही आक्षेप है और प्रमाण तथा तर्क के आधार पर उत्तर की प्रस्तुति समाधान है।

भारतीय परम्परा में व्याख्या के उपयुक्त इन छह नियमों की स्वीकृति सर्वतंत्र स्वतंत्र जैसी रही है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में अन्यथा भी छह प्रकार से सूत्रों की व्याख्या करने की बात दुहराई गई है।

आरम्भोऽथापि सम्बन्धः सूत्रार्थस्तद विशेषणम्।
चोदकं परिहारस्य व्याख्या सूत्रस्य षडविधा।।

अर्थात् पूर्वापर सम्बन्धात्मक संगति (अवतरण), विषय के साथ प्रकरण का सम्बन्ध, प्रतिपाद्य का अभिकथन, उसके विशेषण के अभिप्राय का परिष्कार, पूर्वपक्ष का उत्थापन और उसका परिहार करना सूत्र की व्याख्या में अपेक्षित होता है। इसी बात को अन्यत्र भी थोड़े शब्दान्तर से कहा गया है। वह यह कि व्याख्या के लिए सूत्रार्थ, पदार्थ, हेतु, क्रम और निरुक्ति तथा सम्यक् प्रस्तुति आवश्यक है।

सूत्रार्थश्च पदार्थश्च हेतुश्च क्रमशस्तथा।
निरुक्तमय विन्यासो व्याख्या योगस्य षडविधा।।

एक अन्य बहुश्रुत श्लोक में भी व्याख्या के षडविध तंत्रों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि व्याख्या के लिए भूमिका अर्थात् अवतरण के साथ व्युत्पत्ति का प्रदर्शन पूर्वक प्रतिपाद्य का कथन, संदेह का उत्थापन एवं उसका निराकरण करते हुए सिद्धांत पक्ष की उपस्थापना विवक्षित है। यहाँ केवल वाक्य–योजना की बात नहीं कही गई है लेकिन इसे तंत्रगत स्वयं ही गतार्थ माना जा सकता है।

उपोद्घातः[16] प्रथमतः पदार्थः पदविग्रहः।
अविमर्शः प्रत्यवस्था व्याख्या तंत्रस्य षडविधा।।

उपर्युक्त षडतंत्री व्याख्या पद्धति से मिलती–जुलती एक पंचसूत्री व्याख्या पद्धति भी है जो 'पूर्वमीमांसा व्याख्या पद्धति' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार किसी भी विषय पर विचार करते समय पक्ष–विपक्ष के बलाबल की चिन्ता करते हुए निर्णय तक पहुँचने की प्रक्रिया मीमांसाशास्त्र में अपनाई गई है। केवल विषय का उल्लेख मात्र निर्णय के लिए पर्याप्त नहीं है अपितु उस विषय में उहापोह के पश्चात् इदमित्थं का अवधारण किया जाता है। यहाँ पाँच प्रकार से उहापोह करने की प्रक्रिया निर्दिष्ट की गई है। पहले विवाद का विषय प्रस्तुत किया जाता है और फिर उस विषय में सम्भावित शंका उठाई जाती है। पूर्वपक्ष की युक्तियाँ प्रदर्शित की जाती हैं, पुनश्च उसके निराकरण हेतु बाधक प्रमाण दिखाकर उत्तरपक्ष अर्थात् सिद्धांत पक्ष के साधक प्रमाण दिखाये जाते हैं। इस तरह स्वाभिमत में बाधक प्रमाणों का अभाव दिखाकर साधक प्रमाणों की संगति पूर्वक सिद्धांत स्थिर होता है।

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तारः।
संगतिश्चेति पंचांगं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्।।

द्रष्टव्य है कि इस पंचसूत्री विचार–पद्धति को मीमांसा शास्त्र में 'अधिकरण' पद से अभिहित किया गया है। अधिकरणाधिष्ठित व्याख्या पद्धति का अनुप्रयोग मुख्य रूप से वेदांत और मीमांसा शास्त्र में ही देखने को मिलता है। जैमिनीन्यायमालाकार ने मीमांसा शास्त्र को दो हजार अधिकरणों में बांटा है। पुनः इन अधिकरणों के सहायक रूप में प्रमाण, भेद, शेषत्व, प्रयुक्ति, क्रम, अधिकार, अतिदेश, ऊह, बाध, तंत्र और प्रसंग रूप ग्यारह उपांगों को निर्दिष्ट किया गया है। वस्तुतः इन उपांगों को अधिकरणों की व्याख्या में सहायक और अधिकरणों के निर्धारक दोनों ही रूपों में समझा जा सकता है।

धर्मो द्वादशलक्षण्यो व्युत्पाद्यस्तत्र लक्षणैः ।
प्रमाणभेदशेषत्वप्रयुक्ति क्रम संज्ञकः ।।
अधिकारोऽतिदेशश्च सामान्येन विशेषतः ।
ऊहो बाधश्च तंत्रं च प्रसंगश्चोदितक्रमात् ।।[17]

उपर्युक्त अधिकरणाधिष्ठित व्याख्या पद्धति में 'विधि' का निर्धारण करने के लिए तथा स्तुतिपरक और निन्दापरक अर्थवाद के द्वारा क्रियार्थक वेद की एकवाक्यता दिखाने के लिए मीमांसा शास्त्र में 'अर्थनिर्णय' हेतु सहकारी छह प्रमाणों की व्याख्या की गई है। यद्यपि अर्थनिर्णय के लिए इन छह प्रमाणों का व्यापकतया प्रयोग पूर्वमीमांसा शास्त्र में ही होता है लेकिन इनका लाघव करते हुए अर्थनिर्णय के सामान्य सिद्धांत के रूप में भी इन्हें स्वीकार किया जा सकता है। अर्थनिर्णय के षडविध घटक हैं–श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या।[18] मीमांसा शास्त्र में एतद्विषयक् यह व्यवस्था भी स्वीकार की गई है कि अर्थनिर्णय के प्रसंग में पूर्व–पर्व का सबल प्रामाण्य और उत्तर–उत्तर का उसी अनुपात में प्रमाण दौर्बल्य होता है। इसमें निरपेक्ष शब्द को श्रुति कहते हैं (निरपक्षो खः श्रुति)। लिंग का तात्पर्य ऐसे वाक्य से है जो सीधे–सीधे अर्थ को न बताकर दूसरे प्रसंग में अपने अर्थ को जताता है (लिङ्ग नामान्यपरं सदन्यार्थ द्योतकं वाक्यम्)। अर्थनिर्णय के प्रसंग में 'वाक्य' समभिव्यवहार को कहते हैं और इसका अभिप्राय अंग तथा अंगी के वाचक पदों का साथ–साथ उच्चारण है। ऐसे ही जहाँ दो वाक्य अपनी सम्पूर्ण अर्थाभिव्यक्ति के लिए एक दूसरे की आकांक्षा रखते हों तो उसे प्रकरण कहते हैं (उभयाकांक्षा प्रकरणम्)। सन्निधि विशेष को 'स्थान' कहते हैं। इसकी अपर संज्ञा क्रम भी है। अर्थनिर्णय के प्रसंग में श्रुति क्रम, पाठ क्रम और प्रवृत्ति क्रम का निर्धारण ही वस्तुतः स्थान है। समाख्या का मतलब 'नाम' से है क्योंकि नाम भी कभी–कभी अर्थ निर्णय में सहायक होते हैं। उदाहरण के लिए 'मुहम्मद हुसेन' नाम से ही यह समझ में आ जाता है कि नामधारी मुसलमान होगा। यद्यपि इस प्रकार के अर्थ निर्णय सार्वजनीन नहीं होते क्योंकि यह संभव है कि किसी का नाम 'शिवदास' हो फिर भी वह शैव मतानुगामी न हो। इसीलिए अर्थनिर्णय के घटकों में स्थान और समाख्या को सबसे अन्त में रखा गया है।

व्याख्या कर्म में उपयुक्त षडविध और पंचविध पद्धतियों तथा अर्थनिर्णय के षडविध सहायक प्रमाणों का अनुपालन तो अनिवार्य है ही लेकिन साथ ही साथ व्याख्या की सुपूर्णता और उसे परिकर बनाने के लिए कुछ अन्य

प्रकार की सारस्वत् सतर्कता भी अपेक्षित होती है। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने अभिनव भारती के आरम्भ में ही इस प्रकार की सतर्कताओं का निर्देश किया है। उनका कहना है कि सर्वप्रथम जहाँ अनेक प्रकार के पाठ उपलब्ध हों तो उस स्थिति में अर्थक्रम और प्रसंगानुसार मूल पाठ का निश्चय करना चाहिए तथा अन्य पाठों की अवहेलना न कर उन्हें पाठ–भेद के रूप में निर्दिष्ट करना चाहिए। ऐसे ही व्याख्या करते हुए यदि संदर्भों में पारस्परिक भेद दृष्टिगत हो तो उसका समाधान भी व्याख्याकार का कर्त्तव्य है। इससे अभिप्राय में सुपूर्णता आती है। साथ ही साथ अभिप्राय का प्रतिपादन भी उद्देश्य के अनुकूल होना चाहिए। प्रसंग की संगति और पुनरुक्तियों का सामान्य और विशेष भाव के आधार पर उसका समाधान करते हुए व्याख्या कर्म में प्रवृत्त होने से व्याख्या निर्भ्रान्त और निर्दुष्ट होती है। अन्त में विषय–वस्तु का उपसंहार करते हुए मुख्य अभिप्रायों का संग्रह भी व्याख्याकार को अवश्य करना चाहिए। अभिनवगुप्त ने इन सभी कर्त्तव्यों का निर्वाह नाट्यशास्त्र की व्याख्या में किया हैं।

उपादेयस्य सम्पाठस्तदन्यस्य प्रतीकनम् ।
स्फुट व्याख्या विरोधानां परिहारः सुपूर्णता ।
लक्ष्यानुसरणं श्लिष्टं वक्तव्योसविवेचनम् ।
संगति पौनरूक्त्यानां समाधानमनाकुलम् ।।
संग्रहश्चैत्ययं व्याख्या प्रकारोऽत्र समाश्रिता ।

IV

अब व्याख्या के उपर्युक्त घटकभूत अवयवों को न्यूनाधिक रूप से अनुप्रयुक्त करते हुए विभिन्न शास्त्र परम्पराओं में जो बहुविध प्रकार के अनुशास्त्रीय व्याख्या ग्रंथ प्रणीत किये गये हैं, उन पर भी विचार कर लेना प्रासंगिक है। इन ग्रंथों की प्रकृति पर विचार करने से भारतीय व्याख्या पद्धति पर कुछ विशेष ही प्रकाश पड़ता है। यद्यपि कोई भी ग्रंथ किसी न किसी अर्थ में व्याख्यापरक होता ही है लेकिन वैसे ग्रंथ जो पारिभाषिक तौर पर सोद्देश्य व्याख्या ग्रंथ माने जाते हैं और जिनका प्रणयन प्रायशः सभी शास्त्र परम्पराओं में हुआ है, उनसे व्याख्या प्रकारों की शैलीगत विशेषता उजागर होती है। ऐसे ग्रंथों के प्रमुख प्रकार और भेद इस प्रकार हैं।

वृत्ति :– वृत्ति यथातथ और संक्षेप रूप से सूत्र के अभिप्राय को प्रस्तुत करने वाला ग्रंथ होता है। काव्य मीमांसा के शास्त्र निर्देश नामक प्रकरण में इसका लक्षण करते हुए कहा गया है–'सकल सूत्राणां विवरणं वृत्तिः'। अर्थात् वृत्ति

में उन्हीं बातों का समावेश किया जाता है जो सूत्र में अन्तर्विष्ट रहती हैं। विस्तार और संक्षेप दोनों को छोड़ते हुए जितना कहने से विषय का स्पष्ट परिज्ञान हो जाय, वृत्ति में उतना ही कहा जाता है। अनपेक्षित पुनरुक्ति और युक्ति रहित विषयों का समावेश वृत्ति में सर्वथा वर्जित है। वृत्ति नाम से भी यही विदित होता है क्योंकि चित्त में किसी विषय–वस्तु की सर्वप्रथम यथातथ और सर्वथा अमिश्र वृत्ति ही बनती हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में वृत्ति की शैलीगत विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है –

सूत्रष्वेव हि तत्सर्वं यदवृत्तो समुदाहृत्तम्।
विस्तारोक्तं मतिं सन्ति समासोक्तं न गृह्यते।।
समास विस्तरो हत्वा वक्तव्यं यद् विवक्षितम्।
अपार्थव्याहतं चैव पुनरुक्तं तथैव च।।
तथा विभिन्न संस्थानं युक्तिहीनं विवर्जयेत्।
अभिधानं चान्यत्वं नैतानि स्युरकारणात्।।

पुनः महाभाष्य की छाया व्याख्या में वृत्ति को छह गुणों से विभूषित होने की बात कही गई है। अर्थात् वृत्ति को कहीं निपातन से, कहीं योगविभाग से, कहीं दुरूह–स्थल में गुरू के उपदेश से, कहीं वार्त्तिक आदि में निर्दिष्ट अभिप्राय के आहरण से, कहीं शास्त्रान्तर के सिद्धांत द्वारा विषय की परिशुद्धि से तथा कहीं स्वतंत्र रूप से अभिप्राय के उदघाटन से सुसज्जित किया जाना चाहिए।

निपातनात् योगविभाग दर्शनात्
गुरूपदेशानुवर्त्तिकादपि।
स्वातंत्र्यसिद्धेः परतंत्र दर्शनात्
प्रसादयेल्लक्षणतोऽथ षडविधेः।[19]

वस्तुतः उपरोक्त गुणों के चलते ही वृत्योपेत व्याख्या प्रसादक होती है। इससे सिद्धान्त का ज्ञान सुलभतया हो जाता हैं और सम्बन्धित शास्त्र का स्वारस्य भी समझ में आ जाता है। अतएव भारतीय व्याख्या पद्धति में 'वृत्ति' व्याख्या की एक विशिष्ट शैली है। इसीलिए अधिकांश शास्त्रों के सूत्रों या कारिकाओं पर वृत्ति अवश्य उपलब्ध होती है। सूत्रोपरि वृत्ति लिखने की प्राचीन परम्परा रही है और कारिका ग्रन्थों पर वृत्ति लिखने की परम्परा उसके बाद की प्रतीत होती है। कुछ कारिका ग्रन्थों पर वृत्ति स्वयं कारिकाकारों ने ही लिखी है। उदाहरण के लिए दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय पर स्वयं ही वृत्ति लिखी है। धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्त्तिक के स्वार्थानुमान परिच्छेद पर

स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी है। वृत्ति ग्रन्थ पर जब पुनः टीका की जाती है तो उसे 'पद्धति' नामक ग्रन्थ से अभिहित किया जाता है (सूत्रवृत्ति विवेचनं पद्धतिः)।

भाष्य, वार्त्तिक :– भारतीय परम्परा में व्याख्या ग्रन्थों की दूसरी कोटि भाष्य, वार्त्तिक और उनपर लिखी गई विभिन्न टीका ग्रन्थों की है। इस कोटि के ग्रन्थों से भारतीय शास्त्र परम्पराओं की श्रीवृद्धि अपेक्षाकृत अधिक हुई है। तत्तद शास्त्रों का समृद्धतम स्वरूप इन्हीं ग्रन्थों में विद्यमान है। व्याकरण, न्याय, मीमांसा, वेदान्त और बौद्धपरम्परा के भाष्यवार्त्तिकादि ग्रन्थों में परस्पर खण्डन–मण्डन से युक्त ज्ञान की जैसी गतिशीलता और विकासमानता दिखाई पड़ती है, वैसी प्रतिबद्धता और तत्परता अन्यत्र दुर्लभ है। इस कारण विभिन्न शास्त्रपरम्परायें एक दूसरे के सम्मुख हुईं, उनके बीच अन्तःपदीय समझदारी बढ़ी और इस तरह उनका स्वरूप उत्तरोत्तर आलोचनात्मक हुआ है।

शास्त्रकारों ने सर्वसम्मत रूप से भाष्य ग्रन्थ का परिचय देते हुए यह माना है कि सूत्रानुसारी वाक्यों के द्वारा सूत्र के आशय को प्रकट करते हुए अपने वाक्यों का तात्पर्य भी जहाँ कहा जाता है उसे भाष्य कहते हैं।

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यै सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्य विदोविदुः।।[20]

भाष्यकार का महत्त्व इस बात में भी निहित है कि वास्तव में वह शास्त्रकार होता है। शास्त्रकार का तात्पर्य इस सन्दर्भ में यह है कि भाष्यकार सूत्रों को सम्बद्ध शास्त्र की वैचारिक योजना के अनुरूप अध्याय, आह्निक, प्रकरण, अधिकरण इत्यादि में तंत्रबद्ध करता है। इसप्रकार सूत्रों की एक सुसंहत संहति बनाने के पश्चात् सूत्रों की व्याख्या के लिए सूत्रानुसारी वाक्य योजना करता है और पुनः उस वाक्य योजना में आये कुछ पदों की व्याख्या करते हुए सूत्र के तात्पर्य को उद्घाटित करता है। अतएव कहा जा सकता है कि भाष्य में प्रयुक्त सभी पद सार्थक और सुनिश्चित अर्थ में प्रयुक्त होकर सूत्र के निहितार्थ को व्याकृत करते हैं।

सूत्रोपरि भाष्य लिखने की जो प्रसिद्ध परम्परा रही है उसमें सूत्रकार और भाष्यकार अलग–अलग व्यक्ति होते हैं। परन्तु कहीं–कहीं इसका अपवाद भी देखने को मिलता है। कुछ आचार्यों ने सूत्र ग्रन्थों की रचना कर स्वयं ही उन पर भाष्य भी लिखा है। कौटिल्य (विष्णुगुप्त)[21] का कथन है कि शास्त्रों के भाष्यकारों में बहुधा विप्रतिपत्ति देखी जाती है। इसलिए मैंने स्वयं ही अर्थशास्त्र के सूत्रों की रचना की है और उस पर भाष्य भी लिखा है। इसी प्रकार जैनाचार्य उमास्वाति में तत्त्वार्थाधिगम सूत्र की रचना कर उसकी भाष्य

व्याख्या भी प्रस्तुत की है। परन्तु कौटिल्य के उपयुक्त कथन से इतना तो द्विगुण बल के साथ प्रतिध्वनित होता है कि सूत्र और भाष्य में विचारसरणी की अधिकाधिक संगति होनी चाहिए। दोनों के मध्य विचार विचलन के लिए कोई अवकाश ही नहीं है। वस्तुतः देखा जाय तो भाष्य का प्रामाण्य भी इसी में निहित है। इसके बावजूद भी बौद्ध परम्परा में भाष्य ग्रन्थ के इस मानदण्ड में एक प्रकार का विचलन दिखाई पडता है। अमिधर्मकोश के सूत्र वसुबन्धु के हैं लेकिन उस पर उनका ही भाष्य भिन्न दृष्टिकोण से लिखा गया है। इसीलिए संघभद्र ने अभिधर्मकोश का पुनर्भाष्य वसुबन्धु के विरोध में लिखा है।

इस प्रकार विभिन्न शास्त्रों के भाष्य ग्रन्थों की अपनी–अपनी निजी विशेषतायें भी होती हैं। इन विशेषताओं को भाष्यकार की प्रतिभा में गतार्थ माना जा सकता है। परन्तु भाष्यकार की न्यूनतम इतिकर्त्तव्यता सूत्रार्थ के अभिप्राय के यथातथ उद्घाटन तक ही सीमित होती है। उसका आलोचनात्मक होना आवश्यक नहीं। यद्यपि व्याख्या कर्म में आक्षिप्त होने वाली स्वाभाविक आलोचनात्मकता तो सूत्र एवं भाष्य में भी न्यूनाधिक रूप से रहती ही है लेकिन सूत्र–भाष्य कृत शास्त्र का आलोचनात्मक स्वरूप वास्तव में वार्त्तिक ग्रन्थ के माध्यम से सामने आता है। इसीलिए वार्त्तिककार भाष्य में उक्त, अनुक्त और दुरुक्त इन तीनों पक्षों की व्याख्या करते हुए शास्त्र के तात्पर्य को उच्चस्तरीय आलोचनात्मकता के साथ निरूपित करता है–

उक्तानुक्त दुरूक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते ।
तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुः वार्त्तिकज्ञा मनीषिणः।।

प्रायः सभी शास्त्र परम्पराओं में वार्त्तिक अथवा वार्त्तिक–स्थानीय ग्रन्थ अवश्य उपलब्ध होते हैं। सामान्य तौर पर यह भाष्योपरि व्याख्या ग्रन्थ होता है लेकिन व्याकरण परम्परा में वार्त्तिक पहले और भाष्य बाद में लिखा गया है। सम्भवतः इसी अपवाद के कारण पतंजलि कृत भाष्य को महाभाष्य की पदवी प्रदान की गई हैं। बौद्धन्याय की परम्परा में भी धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्त्तिक के पश्चात् प्रज्ञाकरगुप्त ने अलंकार भाष्य लिखा है। वार्त्तिक ग्रन्थ की विशेषताओं पर विचार करते हुए सर्वसम्मत रूप से यह माना जाता है कि उसमें अष्टविध गुणों का समावेश होना चाहिए। ये आठ गुण हैं–प्रयोजन का कथन, संशय का प्रदर्शन, संशय–निराकरण पूर्वक सिद्धान्त–प्रतिपादन, व्याख्यान द्वारा आशय विशेष का स्पष्टीकरण, गुण का प्रदर्शन (अपने वक्तव्य को प्रमाण और तर्क के द्वारा पुष्ट करना), अनावश्यक बात न कह कर व्यर्थ के विस्तार से बचते हुए लाघव का बनाये रखना तथा कही हुई बातों को न कह कर केवल अपेक्षित वक्तव्य ही देना।

प्रयोजनं संशयनिर्णयो च
व्याख्याविशेषो गुण लाघवं च ।
कृतव्यूदासोऽकृत शासनं च
स वार्त्तिको धर्म गुणोऽवश्च ।।[22]

संग्रह तथा प्रकरण ग्रन्थ :– व्याख्यापरक ग्रन्थों की परम्परा में 'संग्रह' ग्रन्थों की भी अपनी स्वतंत्र विशेषतायें होती हैं। ग्रन्थ के इस प्रकार का प्राचीनतम उल्लेख महाभाष्य में व्याडिकृत 'व्याकरण संग्रह' का मिलता है। वैशेषिक परम्परा में प्रशस्तपाद की कृति यद्यपि भाष्यस्थानीय मानी जाती है लेकिन ग्रन्थकार ने अपनी कृति को संग्रह (पदार्थधर्म संग्रह) ही कहा है। पाराशरोपपुराण एवं काव्यमीमांसा में संग्रह ग्रन्थ को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि सूत्र–भाष्य में विस्तार से कही गई बातों का संक्षेप में जहाँ प्रतिपादन किया जाय वह ग्रन्थ संग्रह ग्रन्थ कहलाता है(विस्तारेणोपदिष्टनां अर्थानां सूत्रभाष्ययोः। संग्रहो यः समासेन संग्रहं तं विदुर्बुधाः।।)[23] भारतीय शास्त्र परम्परा में एक ओर तर्कसंग्रह और अर्थसंग्रह जैसे ग्रन्थों के नामकरण में संग्रह शब्द प्रयुक्त हुआ है तो दूसरी ओर न्यायभूषण, न्यायमंजरी, वाक्यपदीय, तत्त्वसंग्रह और सिद्धान्तलेशसंग्रह जैसे प्रौढ़ व्याख्या परक ग्रन्थ भी संग्रह ग्रन्थ की कोटि में परिगणित किये जाते हैं। अतः संग्रह ग्रन्थ की उक्त परिभाषा किस प्रकार के ग्रन्थों को ध्यान में रखते हुए की गई है, यह बात समझ में नहीं आती। वास्तव में देखा जाय तो संग्रह ग्रन्थ का औचित्य तभी सामने आता है जब वे या तो शास्त्र परम्परा के उस काल में लिखे गये हों जब वह अपने वाचिक रूप से लिपिबद्ध रूप में अवतरित हुआ हो, या फिर उसे शास्त्र परम्परा के बहुआयामी विकास के पश्चात् लिखा गया हो। उदाहरण के लिए शास्त्रीय संगीत–गायन में वाचिक परम्परा के अनेक घराने होते हैं। एक राग के गाने के उनके अलग–अलग गुर होते हैं। वैसे ही शास्त्रों के अलग–अलग गुरूपरम्पराओं के अपने–अपने मतमतान्तर हो सकते हैं। अतः उन सभी का संक्षेपेन कोई संग्रह करे तो संग्रह ग्रन्थ का औचित्य समझ में आता है। पुनः सूत्रोपरि भाष्य, वार्त्तिक,टीका और अनुटीका के क्रम में जो विभिन्न मतमतान्तर और सम्प्रदायगत मतभेद और यहाँ तक कि एकदेशीय मत तथा प्रस्थान–भेद पैदा होते हैं, उनका भी कोई संग्रह करे तो भी संग्रह को सार्थक कहा जा सकता है। ऐसा संग्रह ग्रन्थ किसी शास्त्र परम्परा के विकास में उत्तर काल में लिखा जा सकता है। ऐसे संग्रह ग्रन्थ में ग्रन्थकार

की व्याख्यागत भूमिका मतमतान्तरों के निहितार्थ की विश्लेषिकी और सिद्धान्तों के सम्यक् प्रतिपादन में निहित होती है। न्यायभूषण, न्यायमंजरी, तत्त्वसंग्रह और सिद्धान्तलेशसंग्रह जैसे ग्रन्थ इसी कोटि के कहे जा सकते हैं।

भारतीय परम्परा में व्याख्या ग्रन्थों का एक अन्य प्रकार 'प्रकरण' ग्रन्थों का है। पाराशरोपपुराण में इसका लक्षण करते हुए कहा गया है कि "शास्त्र के किसी एक अंश का स्पष्ट और विस्तृत प्रतिपादन जिस ग्रन्थ में किया जाता है, उसे प्रकरण ग्रन्थ कहते हैं (शास्त्रैकदेश सम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरेस्थितम। आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः।।)[24] शालिकनाथ की प्रकरणपंचिका, गंगेशोपाध्याय की तत्त्वचिन्तामणि[25] इसके मानक रूप कहे जा सकते हैं। ऐसे ही विभिन्न परम्पराओं में छोटे–बड़े कई एक प्रकरण ग्रन्थ लिखे गये हैं जिनमें किसी एक सिद्धान्त को केन्द्र में रखकर विभिन्न मतमतान्तरों का संग्रह और उनकी समालोचना करते हुए स्वपक्ष की स्थापना की गई है।

प्रकरण ग्रन्थों की बनावट को एक दूसरी दृष्टि से भी समझ जा सकता है। वह यह कि भारतीय दर्शनों के विकास की बहुध्रुवीय और तंत्रकेन्द्रित गतिशीलता में एक अवस्था के बाद यह देखा जा सकता है कि कुछ आधारभूत प्रकार के तत्त्वमीमांसीय और ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त विभिन्न दर्शनों की सम्प्रदाय केन्द्रित निष्ठा से ऊपर अपनी स्वायत्तता स्थापित कर लेते हैं। प्रकारान्तर रूप में विकसित ऐसे सिद्धांतों की पहचान वैसे प्रकरणों के रूप में की जा सकती है जिनका सरोकार भारतीय दर्शनों के प्रायः सभी सम्प्रदायों से रहता है और उन सभी दार्शनिक तंत्रों से यह अपेक्षा की जाती है कि तद्विषयक वे अपना–अपना पक्ष प्रतिपादित करें। ऐसे ही किसी प्रकरण सिद्धान्त को केन्द्र में रखकर जब कोई ग्रन्थ रचना में प्रवृत्त होता है और उस सिद्धान्त की वैकल्पिक व्याख्याओं का संग्रह करता है, उनकी समीक्षा करता है तथा स्वाभिमत की प्रतिष्ठा करता है तो ग्रन्थकार का ऐसा प्रयास एक विशिष्ट अर्थ में मानक प्रकरण ग्रन्थ का रूप लेता है। प्रामाण्यवाद, विषयतावाद, ख्यातिवाद, अपोहवाद, भावनावाद, विधिवाद, क्षणिकवाद, व्याप्तिवाद इत्यादि प्रकरणात्मक समस्याओं को लेकर इस प्रकार के प्रकरण ग्रन्थ लिखे भी गये हैं। परन्तु अभी भी भारतीय दर्शन परम्परा में बहुत से ऐसे तत्त्वमीमांसीय अथवा ज्ञानमीमांसीय प्रकरण हैं जिन पर या तो प्रकरण ग्रन्थ लिखे नहीं गये हैं या फिर उन प्रकरणों की सम्यकतया पहचान ही नहीं की गई है। उदाहरण के लिए प्रमाणव्यवस्थावाद, प्रमाणसम्प्लववाद, इन्द्रिय–प्राप्य

कारित्ववाद इत्यादि अपने आप में महत्त्वपूर्ण प्रकरण हैं जिनपर कोई प्रकरण ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता है।[26] अतएव आज भारतीय दर्शन परम्परा में प्रकरण ग्रन्थों की रचना के लिए रचनात्मक अवकाश उपलब्ध है। इस प्रकार के ग्रन्थों की रचना साम्प्रदायिक सीमा में, आन्तर साम्प्रदायिक दृष्टि से और यहाँ तक कि पाश्चात्य दार्शनिक निर्धारणों को भी सम्मिलित करते हुए की जा सकती है।[27]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूत्रों को मूलभूत संदर्भ बनाकर भारतीय परम्परा में व्याख्या ग्रन्थों के दो मौलिक प्रकार हैं – वृत्ति और भाष्य। दोनों अपने–अपने तरीके से सूत्र ग्रन्थ के निहितार्थ को व्याकृत करते हैं। पुनः वृत्ति के ऊपर 'पद्धति' और भाष्य के ऊपर वार्तिक भी सूत्र से निकटतम संबंध रखते हैं। अतः इन्हें भी सूत्र व्याख्या से ही सम्बन्धित ग्रन्थ कहा जा सकता है। न्याय परम्परा के वार्तिककार तो प्रथमतया सूत्रकार अक्षपाद गौतम को ही सम्बोधित करते हैं (यदक्षपादो प्रवरोमुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद्)।[28] इसके अतिरिक्त अन्यान्य प्रकार के टीका ग्रंथ जो बहुविध नामों से जाने जाते हैं, वे सभी उपव्याख्यायें हैं।[29] इन उपव्याख्याओं में भी सूत्रोन्मुखी मूलगामिता का त्याग नहीं किया जाता बल्कि व्याख्यानगत कौशल और उनके समस्त निर्धारण विश्वतोमुख सूत्र के ही स्फुलिंग मात्र होते हैं।

V

अब यहाँ प्रसंगवश यह भी अवधेय है कि हमारे पूर्वाचार्यों ने व्याख्या के प्रकारों, भेदों और विधियों का यत्र–तत्र जैसा निर्देश किया है उनका अनुप्रयोग व्याख्या कर्म में न्यूनाधिक रूप से होता ही है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि ये सभी व्याख्या करने की यांत्रिक विधियाँ हैं और कोई भी इनका अनुप्रयोग करते हुए व्याख्याकार हो सकता है। अतएव व्याख्याकार के लिए भी कुछ योग्यताएँ अपेक्षित हैं और तभी वह व्याख्या विधियों का सम्यक् प्रयोक्ता हो सकता है। अवधेय है कि व्याख्याकार के लिए सम्बद्धशास्त्र का ज्ञाता होना तो आवश्यक है ही लेकिन इसके साथ–साथ उसे 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ' भी होना चाहिए। भारतीय परम्परा में विद्वान् को 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ' कहने की परम्परा भी रही है। यहाँ पद से व्याकरणशास्त्र, वाक्य से मीमांसाशास्त्र और प्रमाण से न्यायशास्त्र अभिप्रेत है। इन तीनों शास्त्रों का जानकार ही समवेत रूप से 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ' पद से अभिहित होता है। ऐसा व्यक्ति ही स्वयूथ्य और परयूथ्य शास्त्र का व्याख्याता हो सकता है। व्याख्या कर्म के घटकभूत जिन विधियों का उल्लेख पूर्व में किया

गया है, उनका विनियोग 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ' हुए बिना कोई कर ही नहीं सकता।[30] यद्यपि इन तीनों पदों से लक्षित ये तीनों शास्त्र पुरूषार्थ चतुष्टय के सम्पादक भी हैं लेकिन वाद–विधान पद्धंति से विचार और व्याख्या–प्रक्रिया को पुंखानुपुंख अग्रसारित करना इनका अन्यतम स्वरूप है। इस दृष्टि से इन तीनों शास्त्रों को 'वादवार्ता' और 'मानवार्ता' प्रक्रिया शास्त्र कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसीलिए ये तीनों अपने आप में स्वतंत्र शास्त्र होते हुए भी अन्यशास्त्रों के उपकारक हैं। व्याकरण और न्यायशास्त्र को बहुधा सभी विद्याओं का प्रदीपभूत सर्वशास्त्रोपकारी कहा भी जाता है।[31] मीमांसा भी एक दृष्टि से वेदवाक्यों के निर्णयार्थ परीक्षा शास्त्र ही है। 'तस्यनिमित्तपरिष्टिः' सूत्र से इसी आशय का द्योतन होता है। पारस्कर गृह्यसूत्र में तो मीमांसाशास्त्र को सीधे–सीधे 'तर्क' पद से अभिहित किया गया है (विधिर्विधेयस्तर्कश्चवेदः)। पारस्कर के इस वचन में विधि पद से वेद का ब्राह्मण भाग, विधेय पद से मंत्रभाग और तर्क पद से मीमांसाशास्त्र विवक्षित है। वाचस्पति मिश्र ने भी पारस्कर गृह्यसूत्र को उद्धृत करते हुये मीमांसा को युक्तिशास्त्र या तर्कशास्त्र कहा है (मीमांसासंज्ञकस्तर्कः सर्वो वेद समुद्भवः)। इस प्रकार कहा जा सकता है कि व्याकरण (पदशास्त्र) व्याख्या का वाङ्मय शरीर निर्मित करता है और मीमांसा (वाक्यशास्त्र) तथा न्याय (प्रमाणशास्त्र) उसका विश्लेषण और प्रमाणीकरण करते हैं। भारतीय परम्परा में व्याख्याकार के लिए इन तीनों शास्त्रों में अभिज्ञता सुतरां अपेक्षित है।

इसके अतिरिक्त भारतीय परम्परा में एक कुशल व्याख्याकार की योग्यताओं में 'तंत्र युक्तियों' के ज्ञान को भी सम्मिलित किया गया है। शास्त्रावबोध, शास्त्र–निर्माण और उसकी व्याख्या के गुण–सूत्रों के रूप में तंत्र युक्तियों के अनुप्रयोग की बड़ी प्राचीन परम्परा रही है। आयुर्वेद के ग्रंथों में, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में और विष्णुधर्मोत्तर पुराण में यत्र–तत्र इसके संदर्भ प्राप्त होते हैं। कुछ लोगों का तो यहाँ तक मानना है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी में तंत्रयुक्तियों का बखूबी प्रयोग हुआ है। तेरहवीं शताब्दी में आचार्य नीलमेघ की तंत्रयुक्ति नामक एक कृति भी प्राप्त होती है। चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता में शास्त्रनिर्माण एवं शास्त्रावबोध हेतु तंत्रयुक्तियों की महिमा का बखान बहुत ही समारोहपूर्वक किया गया है।[32] पुनः यहाँ तंत्रयुक्तियों के दो प्रयोजन बताये गये हैं–वाक्य प्रयोजन और अर्थ प्रयोजन।[33] असम्बद्ध वाक्यों को सम्बन्धित करना वाक्य प्रयोजन है और संकुचित, अस्पष्ट एवं असंगत अर्थ को सुसंगत करना अर्थप्रयोजन है।

तंत्रयुक्ति शब्द में यहाँ तंत्र पद का अर्थ सोद्देश्य और सुविचारित रूप से परस्पर सम्बद्ध वाक्यों का वाङ्मय शरीर है।[34] इस वाङ्मय शरीर की रचना जिस रीति अथवा जिन उपायों से की जानी चाहिए उसको युक्ति कहते हैं (युक्ति शब्दः खलूपायवाची। युज् योजने तस्मिन् युक्तिरिति रूपं भवति)। इस अर्थ में तंत्रयुक्तियाँ किसी व्याख्यात वाङ्मय शरीर की रचना करने के लिए और पुनः उसे समझने के लिए दोनों तरह से उपयोगी होती हैं। आधुनिक शब्दावली में कहें तो तंत्र का मतलब सही अर्थों में अंग्रेजी के 'टेक्स्ट' से हैं और युक्ति का मतलब अंग्रेजी के 'टेक्सचर' से है। अतः टेक्सचर का ज्ञान जिस तरह से टेक्स्ट को निर्मित करने के लिए और टेक्स्ट को समझने के लिए उपयोग में लाया जा सकता है उसी तरह तंत्र–युक्तियों का उपयोग किसी व्याख्येय तंत्र को निर्मित करने तथा व्याख्यात तंत्र की बुनावट को समझने के लिए किया जा सकता है। अब चूँकि व्याख्याकार अपने व्याख्या कर्म से शास्त्र का एक वाङ्मय–शरीर निर्मित करता है, अतः उसके लिए तंत्रयुक्तियों का जानकार होना अति आवश्यक है। इस तरह तंत्रोपाय के रूप में प्रयुक्त होने वाली तंत्रयुक्तियों की कुल संख्या कितनी है, इस बात को लेकर मतभेद हो सकते हैं, लेकिन इन मतभेदों के बीच भारतीय व्याख्या परम्परा में बत्तीस तंत्रयुक्तियों की पहचान बहुत ही प्रसिद्ध है। इनके नाम और लक्षण इस प्रकार हैं।[35]

यमर्थमधिकृत्योच्यते तदधिकरणम्। येन वाक्यार्थो युज्यते स योगः। सूत्रपदे योऽर्थोऽधिकृतः स पदार्थः। यदन्यत् युक्तिमदर्थस्य साधनं स हेत्वर्थः। समासवचनं उद्देशः विस्तार वचनं निर्देशः एवमेव इत्युपदेशः। अनेन कारणेनेत्यपदेशः प्रकृतस्यानागतेन साधनं प्रदेशः अति–क्रान्तेननातिदेशः। अभिप्रायानुकरणमपवर्गः। येनार्थः परि–समाप्यते पदेनाहार्येण स वाक्यशेषः। यदकीर्तितमर्थ–मापाद्यते सार्थापतिः। प्रकारेणामिहितोऽर्थः केनचिद् उपोद्घातेन पुनरूच्यमानः प्रसंगः। सर्वत्र यस्तथा स एकान्तः। क्वचित्तथा क्वचिदन्यथा सोऽनेकान्तः। प्रतिषेध वचनं पूर्व–पक्षः। तस्योत्तर वचनं निर्णयः। प्रकरणानुपूर्व्य विधानम्। तस्यप्रतिलोम्य विपर्ययः। इत्युक्तामिति अतिक्रान्तवीक्षणम्। परत्र वक्ष्यामि इत्यनागतवीक्षणम्। उभयतो हेतुदर्शनं संशयः। तत्रातिशयवर्णना व्याख्यानम्। परमता प्रतिसन्धोनुमतिः। परेरसंमतः स्वसंज्ञा लोके प्रतीतमुदाहरणं निर्वचनम्। तद्युक्ति निदर्शनं दृष्टान्तः। इदमेवेतिनियोगः। इदं वा इदं वेति विकल्पः। इदं चेदं चेति समुच्चयः। अन्यथा यदज्ञातं युक्तितश्चेद् गम्यते तदूहयमिति। इति द्वात्रिंशत् तंत्रयुक्त्याः।।

उपर्युक्त इन बत्तीस प्रकार की तंत्रयुक्तियों की प्राचीनता और इनके पीछे कार्यकर रही अवधारणात्मक योजना को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि इसका आविष्कार वाचिक परम्परा में प्रसिद्ध किसी शास्त्र विशेष के सूत्रों को समुच्चयबद्ध करने के एक सामान्य विधान के रूप में हुआ होगा। इसीलिए सूत्रग्रन्थों की संरचना में इनका अनुप्रयोग स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। बाद के सूत्रोपरि भाष्य–वार्त्तिकादि व्याख्या ग्रन्थों में जो व्याख्या पद्धति और व्याख्यान शैली प्रयुक्त हुई है, उनमें इन तंत्रयुक्तियों का न्यूनाधिक आहरण और प्रभाव भी देखा जा सकता है। व्याकरण महाभाष्य की छाया–व्याख्याकार ने तो हूबहू इन बत्तीस तंत्रयुक्तियों का आकलन व्याख्या के गुणों के रूप में ही किया है (द्वात्रिंशत प्रकाराणां समावेशः व्याख्यां कर्त्तव्यः)।

VI

इस प्रकार हम पाते हैं कि भारतीय परम्परा में व्याख्या पद्धति का समारम्भ एक तंत्र की अवधारणा से होता है। पुनः इस तंत्र के वाङ्मय शरीर को निर्मित करने के लिए उसके उपायभूत तंत्रयुक्तियों का आविष्कार किया गया। तदनन्तर तंत्र के वाङ्मय शरीर की व्याख्या करने के लिए षडविध और पंचसूत्री व्याख्या पद्धति विकसित हुई। व्याख्या की समृद्धि और विचार–शोभन के लिए कतिपय गुणों का निर्देश भी किया गया है। इन व्याख्या पद्धतियों और व्याख्या–गुणों का समावेश व्याख्याकारों ने अपनी–अपनी व्याख्या में अपनी–अपनी प्रतिभा के अनुसार जिस तरह से किया है, उसके फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के ग्रन्थ भेद सामने आये हैं। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया के चरितार्थ होने पर विचारों का एक संस्थान निर्मित होता है जिसमें एक ओर मूलगामिता तो दूसरी ओर नवोन्मेषी प्रतिभा का समन्वय दिखाई पड़ता है। इस समन्वय से भारतीय शास्त्र परम्परा का उत्कर्ष जिस तरह से हजारों वर्ष तक हुआ है, वह किसी भी शास्त्र अथवा बौद्धिक परम्परा के लिए गौरव की बात हो सकती है। प्रोफेसर टी. आर. वी. मूर्ति ने उचित ही कहा है कि "भारतीय शास्त्र परम्परा संग्रहालय में पड़ी सुदूर–अतीत की कोई दुर्लभ जैसी वस्तु नहीं बल्कि विचार–साधना की एक जीवन्त परम्परा है।" परन्तु यह कहने में मुझे तनिक भी संकोच नहीं कि श्रुत्यर्थपर्यालोचना और भाष्यधर्मी विचार–साधना की समृद्ध भारतीय परम्परा आज सरस्वती की तरह विलुप्त तो नहीं हो गई है लेकिन गंगा–यमुना की तरह प्रदूषित और सिकुड़ने जरूर लगी है। अतएव आज वाचस्पति मिश्र की उस प्रतिबद्धता–"इच्छामि किमपि पुण्यं

दुस्तर कुनिबन्धपंकमग्नानां। उद्योतकर गवीनाम अतिजरतीनां समुद्धरणात्"– को पूरी आत्मचेतना के साथ आत्मसात् करने की आवश्यकता है। ताकि हमारी स्मृतियों से ओझल हो रही श्रुत्यर्थपर्यालोचना और भाष्यधर्मी अभियान को पुनः संचालित किया जा सके और हम सभी उसके उत्तराधिकारी होने को प्रमाणित कर सकें।

दर्शन विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
. सागर-470002 (म.प्र.)

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. *महाभाष्य– 4–3–101*
2. *निरूक्त 1/20, साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृत धर्मभ्य उपदेशेन मंत्रान सम्प्रादुः।*
3. *वही, उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदांगानि च।*
4. *द्रष्टव्य, दीधनिकाय, अग्गञ्जय सुत्त*
5. *महाभारत, अनु. 63/28, वेदविक्रयिणश्चैव वेदानां चैव दूषकाः। वेदानां लेखकाश्चैव ते वै निरयगामिनः।।*
6. *सूत्रकारों को भगवान पद से अभिहित करने के अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ शारीरक सूत्र 1–1–2 की उत्थानिका में 'भगवान् सूत्रकारः' प्रयोग हुआ है। पुनः4–4–22 की उत्थानिका में भी 'भगवान् बादरायण' सम्बोधन प्रयुक्त हुआ है। इसी तरह महाभाष्य में 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' का भाष्य करते हुए 'कथं पुनरिंदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्' कहा गया है। ऐसे ही मनुस्मृति (1–1) पर मेधातिथि ने भाष्य करते हुए कहा है– तथा हि भगवान् पाणिनिरनुक्त्वैव प्रयोजनम् ....। इसीप्रकार भाष्यकारों को भी भगवान पद से सम्बोधित करने के अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ आचार्यशंकर ने उपवर्ष के लिए 'वर्णा एव शब्दा इति भगवान् उपवर्षः' कहा है (ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, 1,3,28)। ऐसे ही शबर स्वामी ने भी उपवर्ष का स्मरण भगवान पद से किया है (वृत्तिकारवचनात् प्रतिज्ञां संशयं चावगच्छामः। अत्रभगवानाचार्य इदमुदाहृत्य– शाबर भाष्य–12,1,16)।*
7. *निरूक्तकार ने ओह ब्रह्म अर्थात् ऊह जिसका ब्रह्म हो ऐसा कहा है(13,1,13)। पुनः ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि मंत्रार्थ का ऊह करने में असमर्थ ऋत्विक् का त्याग करके ओह ब्रह्म ऋत्विजों का वरण करना चाहिए (ओह ब्रह्माणों विचरन्ति उतत्वे–ऋग्वेद 8,2,24)।*
8. *द्रष्टव्य सांख्यकारिका पर युक्तिदीपिका – 4, 5 –*
   न तस्याधिगमः शक्यः कर्तुं वर्षशतैरपि।

भूयस्त्वादिति संचिन्त्य मुनिभिः सुक्ष्मबुद्धिभिः।।
ग्रन्थेनाल्पेन संक्षिप्य तदार्षमनुशासनम्।
निबद्धममल प्रज्ञैः शिष्याणां हितकाम्यया।।

9. पाणिनि के सूत्रों से पूर्व भी सूत्रशैली में निबद्ध शास्त्र राशि विद्यमान थी, इसका उल्लेख स्वयं पाणिनि ने ही किया है–(पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षुनट सूत्रयः, अष्टा.–4–3–110)। पुनः पाणिनि से पूर्ववर्ती आपिशलि, काशकृत्स्न और भागुरि आदि अनेक शाब्दिक आचार्यों के सूत्र, धातु और गण से युक्त सर्वांगपूर्ण व्याकरण थे (वैदिक सिद्धान्त मीमांसा–युधिष्ठिर मीमांसक, पृ. 242)।
10. द्रष्टव्य जे. आई. सी. पी. आर. अंक 1–96 नोट्स एण्ड क्वायरिज, पाराशरोपपुराण के 18 वें अध्याय के महत्त्वपूर्ण अंशों का अंग्रजी अनुवाद, अम्बिकादत्त शर्मा।
11. तंत्रवार्त्तिक, 1–2–3–4, विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते।।
12. चरक संहिता, सिद्धि स्थान, 12/65–66, द्रष्टव्य है कि प्रवचन अथवा संस्कार के कारण प्रत्येक नये प्रवचन में जहाँ नवीन अंश का समावेश होता है, वहाँ प्राचीन अंश भी सुरक्षित रहता है। आयुर्वेद के अग्निवेश कृत तंत्र का प्रतिसंस्कार चरक (वैशम्पायन) ने किया है। महाभाष्य की काशिका व्याख्या(4–3–104) में 'चरक इति वैशम्पायनस्याख्या' ऐसा पद आया है। इसीलिए उसका नाम चरकसंहिता पड़ा (अग्निवेशकृते तंत्रे चरक प्रतिसंस्कृते)। पुनः उत्तरकाल में चरक संहिता के प्रतिसंस्कर्त्ता 'दृढ़बल' और पातंजल महाभाष्य के प्रतिसंस्कर्त्ता 'चन्द्राचार्य' हुए हैं।
13. शास्त्रवाद प्रकरण – पृ. 453,
14. पाराशरोपपुराण – अ. 18, श्लोक – 17
15. व्याख्या के लिए पदच्छेदादि आवश्यक, प्रविधि है। इसी कारण श्लोकवार्त्तिक, प्रतिज्ञासूत्र–40 की सुचरित मिश्र की टीका में भवदास के अनुयायियों ने शबर स्वामी पर व्यंग किया है कि यह अभिनव भाष्यकार पदच्छेद आदि नहीं करता, इसलिए सूत्रार्थ को नहीं जानता है (यतः पदच्छेदादि न करोति, तस्मान्नायभभिनेवा भाष्यकारः सूत्रार्थं विजानीत)।
16. आचार्य माठर ने सांख्यकारिका की अपनी वृत्ति में उपोद्‌घात का लक्षण इस प्रकार किया है –स्थानं निमित्तं वक्ता च, श्रोता श्रोतृप्रयोजनम्। सम्बन्धाद्यभिधानं च, उपोद्‌घातः स उच्यते।।
17. जैमिनि न्यायमाला विस्तर–1/12–13
18. श्रुति–लिंग–वाक्य–प्रकण–स्थान–समाख्यानां समवायेपार दौर्बल्यमर्थवप्रकर्षात्–मीमांसा सूत्र, 3–3–14
19. व्याकरण महाभाष्य की छाया व्याख्या–पृ. 2
20. विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भाष्य की दी गई इस परिभाषा के अतिरिक्त शिशुपाल वध (2–24) में कहा गया है कि "संक्षिप्त वाक्यों (सूत्रों) के गम्भीर अर्थ को विस्तृत करने वाला कथन भाष्य कहलाता है। संक्षिप्तस्याप्यतोऽस्यैव वाक्यस्थार्थ गरीयसः। सुविस्तरतरा वाचो भाष्यभूता भवन्तु मे।।

21. अर्थशास्त्र–दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं बहुधाशास्त्रेषु भाष्यकारानणाम्। स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं भाष्यं च।।
22. वार्त्तिक ग्रन्थ के अष्टविध गुणों पर यह श्लोक मैने स्वामी योगीन्द्रानन्द एवं बाद में आचार्य किशोरनाथ झा के गुरुमुख से ग्रहण किया है।
23. राजशेखर, काव्यमीमांसा अध्याय 2, प्रकृत प्रसंग में राजशेंखर ने चूर्णि एवं पंजिका तथा कारिका ग्रन्थों को भी परिभाषित किया है।
24. पाराशरोपपुराण, अ. 18 श्लोक 21–22
25. गंगेशोपाध्याय की तत्त्वचिन्तामणि पूरे न्याय परम्परा के परिप्रेक्ष्य में प्रकरण प्रन्थ है लेकिन नव्य–व्याय परम्परा के सन्दर्भ में यह आकर ग्रन्थ है। न्याय–वैशेषिक परम्परा को उत्तरवर्ती काल में चिन्तन की एक ही धारा मान लेने के कारण इस परम्परा में भासर्वज्ञकृत न्यायसार, वरदराज कृत तार्किकरक्षा, केशवमिश्रकृत तर्कभाषा, वल्लभाचार्य कृत न्यायलीलावती, विश्वनाथ कृत भाषापरिच्छेद, शशधर कृत न्यायसिद्धांतदीप जैसे अनेक प्रकरण ग्रन्थ विभिन्न दृष्टियों को प्रमुखता देते हुए लिखे गये हैं।
26. श्री लक्ष्मीपुरम् श्रीनिवासाचार्य ने मानमेयरहस्यश्लोकवार्त्तिक नामक अपने ग्रन्थ में भारतीय दर्शन को 156 प्रकरणों में बांट कर निरूपित किया है। सम्भवतः यह एक मात्र ग्रन्थ है जिसमें भारतीय दर्शन को संप्रदाय क्रम में निरूपित न कर प्रकरणों में विभाजित कर विवेचित किया गया है। यद्यपि उनका यह महनीय प्रवास समालोचनात्मक नहीं होकर विवरणात्मक प्रकरण–संग्रह जैसा है।
27. सम्प्रति बी.के. मतिलाल की कृति 'परसेप्शन' को (आंग्ल भाषा में) अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का प्रकरण ग्रन्थ कहा जा सकता है। वैसे ही हिन्दी में लिखे गये संप्रति इस प्रकार के प्रकरण ग्रन्थों में प्रो. विश्वम्भर पाही कृत "वैशेषिक पदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श" एवं डॉ आनन्दमिश्र कृत 'संवित्प्रकाश वाद' उल्लेखनीय है।
28. एक दूसरे प्रसंग में उद्योतकर भारद्वाज ने सूत्रकार एवं भाष्यकार दोनों को महत्त्व प्रदान किया है–यदक्षपाद प्रतिभो भाष्यं वात्स्यायनो जगौ। अकारि महतस्तस्य भारद्वाजेन वार्त्तिकम्।।
29. भारतीय परम्परा में उपव्याख्या ग्रन्थों के प्रसिद्ध नाम इस प्रकार हैं–तात्पर्य टीका, गूढार्थ, सुबोधिनी, परीक्षा, समीक्षा, प्रदीप, प्रकाश, प्रकाशिका, उद्योतन, दीप, आलोक, तरंगिणी, दर्पण, परिभाषा, विवरण, अमृत, स्फुटार्थ, मंजूषा, टीका, टिप्पणी, कौमुदी, मुक्तावली तर्कभाषा, मनोरमा, प्रौढ़मनोरमा, कुचमर्दिनी, दीपिका परिशुद्धि, मंजरी, सज्जीवनी, घण्टापथ, लोचन, रसमंजरी, सुरभि, प्रपूरणी, युक्तिस्नेह, कल्पतरू, परिमल, जयमंगला, तत्त्वविवेचनम्, तत्त्वयाथार्थ्यदीपनम्, तत्त्वबिन्दु, तत्त्वसमीक्षा, चन्द्रिका, तरूवसन्त, अकुतोभया, रत्नाकर, काशिका, सुधा, सर्वोपहारिणी, मिताक्षरा, उज्जीवनी,अजिता, पारायण, आभरण, मण्डन,विमला, शिखा, कणिका विवेक, रत्नमालिका, अवलि, मण्डल, दीधिति, छाया, भास्कर, मितभाषिणी, पंजिका, बोधिनी, मकरन्द, अलंकार, मार्तण्ड, सिद्धि,कलाप, रहस्य, कौस्तुभ, प्रभावली, निर्णय, प्रभा, मुखमर्दन, सौरभ, सौगन्ध्य, उद्धार, वर्द्धन, मल्लिका, उपन्यास इत्यादि।

30. व्याख्याकारों ने अपनी व्याख्या की प्रामाणिकता प्रदर्शित करने के लिए न्यायशास्त्र और मीमांसा शास्त्र में अपनी अभिज्ञता को विनम्रता पूर्वक प्रदर्शित भी किया है। उदाहरण के लिए 'कणादं पाणनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकात्' सर्वतंत्र स्वतंत्र रूप से प्रसिद्ध है। ऐसे ही तत्त्वचिन्तामणि के आरम्भ में ही गंगेश अपना आत्मपरिचय देते हुए कहते हैं –
अन्वीक्षानयमाकलय्य गुरुभिरर्ज्ञात्वा गुरूणां मतं,
चिन्ता दिव्य विलोचनेन च तयोःसारं विलोकारिवलम्।
तंत्रे दोषगणेन दुर्गमतरे सिद्धान्त दीक्षा गुरुः,
गंगेशस्तनुते मितेन वचसा श्रीतत्त्वचिन्तामणिम्।।
इसी प्रकार वाचस्पति मिश्र (द्वितीय) में भी अपनी कृति 'कृत्यदीप' के आरम्भ में कहा है–वंशेजातः कलुषरहिते कर्ममीमांसकानामन्वीक्षायां गुरुकरूणया लब्धतत्त्वावबोधः। धर्मराजाध्वरीन्द्र ने भी वेदान्तपरिभाषा के प्रारम्भ में यह कह कर न्याय शास्त्र विषयक अपनी व्युत्पन्नता को प्रदर्शित किया है कि "मैंने तत्त्वचिन्तामणि पर दश टीकाओं का खण्डन करने वाली तर्कचूड़ामणि नामक व्याख्या लिखी है (येन चिन्तामणौ टीका दशटीकाविभञ्जिनी। तर्कचूड़ामणि नाम कृता विद्वन्मनोरमा")।
31. न्यायशास्त्र के लिए यह प्रसिद्ध उक्ति है–प्रदीपःसर्वविद्यानामुपायःसर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्वधर्माणां शाश्वदान्वीक्षिकी मता"। इसी प्रकार पदमंजरी में व्याकरण शास्त्र की प्रशस्ति में कहा गया है–उपासनीयं यत्नेन शास्त्रं व्याकरणं महत्। प्रदीपभूत सर्वासा विद्यानां यदवस्थितम्"।
32. सुश्रुत संहिता में कहा गया है –
सामान्य दर्शनेनासां व्यवस्था संप्रदर्शिता।
विशेषस्तु यथा योगमुपधार्यो विपश्चिता"
द्वात्रिंशद युक्तयो ह्योतास्तन्त्र सारगवेषणे।
यो ह्योतद् विधिवद् वेत्ति दीपीभूतास्तु बुद्धिमान्।।
33. सुश्रुत संहिता–असद्वादि प्रयुक्तानां वाक्यानां प्रतिषेधनम्।
स्ववाक्य सिद्धिरपि च क्रियते तंत्रयुक्तितः।।
वक्ता नोक्तास्तु ये ह्यर्था लीनाये चाप्यनिर्मला।
लेशोक्ता ये च केचित्स्युरतेशां चापि प्रसाधनम्।।
34. वात्स्यायन ने तंत्र पद की व्याख्या करते हुए कहा है–तन्त्रम्–इतरेतराभिसम्बद्ध–स्यार्थसमूहस्योपदेशः–शास्त्रम्। वात्स्यायन भाष्य–1–1–26
35. महाभाष्य की छाया व्याख्या में बत्तीस तंत्रयुक्तियों का संग्रह और उनके नाम इस प्रकार हैं–अधिकरण, विधान, योग, पदार्थ, हेत्वर्थ, उद्देश, निर्देश, उपदेश, अतिदेश, अपदेश, प्रदेश, उपमान, अर्थापत्ति, संशय, प्रसंग, विपर्यय, वाक्यशेष, अनुमत, व्याख्यान, निर्वचन, निदर्शन, अपवर्ग, स्वसंज्ञा, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, एकान्त, अनागतापेक्षण, अतिक्रान्तावेक्षण, नियोग, विकल्प, समुच्चय और उह्य।

हुस्सर्लीय फिनोमिनोलॉजी : द्वितीय कॉपरनिकसीय क्रान्ति

संजय कुमार शुक्ला

इस आलेख में हुस्सर्ल की फिनोमिनोलॉजी को द्वितीय कॉपरनिकसीय क्रान्ति के रूप में विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। यह मेरी व्यक्तिगत समझ अथवा सूझ है जो कि फिनोमिनोलॉजी के साहित्य में उपलब्ध नहीं है। हुस्सर्ल की क्रान्तिकारी वैचारिक योजना में अपचयन, शुद्ध विषयिनिष्ठता के क्षेत्र का उद्घाटन, बुद्धि की सार्वभौम समीक्षा की समस्या तथा जीवन–लोक का प्रत्यय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वे स्वीकार करते हैं कि काण्ट का दर्शन कोपरनिकसीय पहल की निर्णायक अवस्था है जिसमें संरचनात्मक विषयिनिष्ठता के जीवन को तो हम पाते हैं लेकिन कॉपरनिकसीय पहल की पूर्ण निष्पन्नता एवं उसकी अनुभवातीत अभिव्यक्ति फिनोमिनोलॉजी में ही प्राप्य है। द्रष्टव्य है कि हुस्सर्ल की फिनोमिनोलॉजकीय कार्ययोजना हमारे प्राकृतिक तत्त्वशास्त्र का उत्क्रमण है। दार्शनिक मूलगामिता हुस्सर्ल के क्रान्तिकारी भाव को भी निरूपित करता है। यह समस्त ज्ञान एवं अनुभव के उत्स और उसके परम आधारशिला की गवेषणा है। अर्थ के यथार्थ स्रोत की खोज अंततः जीवनलोक एवं अनुभवातीत विषयिनिष्ठता के प्रत्यय को प्रस्तावित करती है। हुस्सर्लीय फिनोमिनोलॉजी का अत्यन्त ही मौलिक एवं क्रान्तिकारी दावा यह है कि चेतना जगत् को संरचित करती है। अतः हुस्सर्लीय दार्शनिक पुनर्रचना का प्रयास न केवल मेरी व्याख्या के तार्किक प्रमाणीकरण को ही समाहित करता है अपितु क्रान्ति के स्वरूप को भी विश्लेषित करता है।

I

हुस्सर्ल काण्ट के मौलिक प्रश्न का उत्तर अन्य प्रकार से सर्वांगीण रूप में देने का प्रयास करते हैं : 'अनुभव का विषय कैसे संभव है'? काण्टीय कॉपरनिकसीय क्रान्ति संज्ञानात्मक परिस्थिति में परिवर्तन से उत्प्रेरित है। अनुभव का विषय किस प्रकार ज्ञान संभव बनाता है ? के स्थान पर काण्ट

अभिनव प्रश्न को प्रस्तावित करते हैं कि किस प्रकार विशिष्ट अतीन्द्रिय ज्ञान हमारे अनुभव के विषय को संभव बनाते हैं ? काण्ट का तर्क है कि मन के अतीन्द्रिय आयाम में निहित निश्चित प्रागनुभविक आकार अव्यवस्थित इन्द्रिय संवेदनों पर आरोपित होते हैं और उसके फलस्वरूप यह संवेदन वस्तुनिष्ठ और समन्वयात्मक रूप में बुद्धि के समक्ष प्रस्तुत होते हैं। हुस्सर्ल काण्ट की ज्ञानमीमांसा में परिष्कार द्विविध धरातल पर करते है– 'वे संवृत्ति एवं परमार्थ तथा संवेदन एवं बुद्धि के द्वैत को अस्वीकार करते हैं और इस आधार पर ज्ञान का संकाय–सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। उपरोक्त द्वैत के संवृत्तिशास्त्रीय दृष्टिकोण पर विजयी होने का मार्ग अपचयन का प्रत्यय प्रशस्त करता है। अतीन्द्रिय अन्तर्वर्ती विभेद का पुनर्चित्रण अनुभवातीत अपचयित अनुभव के क्षेत्र में संभव है।'[1]

अब आगे बढ़ने से पहले इस प्रश्न पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा कि हुस्सर्ल के दर्शन को द्वितीय कॉपरनिकसीय क्रान्ति कहने का उद्देश्य या निहितार्थ क्या है ? हुस्सर्ल के फिनोमिनोलॉजी की द्वितीय कॉपरनिकसीय क्रान्ति के रूप में व्याख्या के अनेक अर्थ अथवा अभिप्राय संभव हैं :

(1) यह मात्र काण्ट एवं हुस्सर्ल के दर्शन में साम्य एवं वैषम्य को रेखांकित करता है।

(2) इस व्याख्या का उद्देश्य हुस्सर्लीय दर्शन के क्रान्तिकारी पक्ष को उद्घाटित करना है।

(3) काण्ट के द्वारा जिस क्रान्ति (वैचारिक) का प्रारंभ किया गया उसकी परिणति (तार्किक) हुस्सर्ल के विचार में परिलक्षित होती है अर्थात् काण्ट के अपूर्ण प्रयोजनों की सिद्धि फिनोमिनोलॉजी में प्राप्य है। अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि हुस्सर्ल की अनुभवातीत फिनोमिनोलॉजी कॉण्ट के अतीन्द्रिय प्रत्ययवाद की तार्किक परिणति है।

यद्यपि इन तीनों विकल्पों की हुस्सर्ल के फिनोमिनोलॉजी को द्वितीय कॉपरनिकसीय क्रान्ति के रूप में स्थगित करने की विशिष्ट भूमिका है, किन्तु तृतीय विकल्प इसे तार्किक रूप में अधिक औचित्यपूर्ण ढंग से प्रतिष्ठित करता है।

दर्शनशास्त्र के इतिहास में जब जीवन और जगत् से सम्बन्धित समस्याओं पर आधारभूत और मौलिक दृष्टि से विचार करने का प्रयत्न किया जाता है तो ऐसे सार्थक प्रयत्नों को ही 'क्रान्ति' में अभिहित किया जा सकता

है। डेकार्ट एवं काण्ट ने दार्शनिक चिन्तन को ऐसे ही मूलभूत आयाम प्रदान किये हैं और इस दिशा में हुस्सर्ल का भी विशेष योगदान रहा है। 'सामान्यतः हमारा ध्यान विषय (ज्ञेय) पर केन्द्रित होता है और हम उसे विषयी (ज्ञाता) से स्वतंत्र एवं पूर्वगामी स्वीकार करते हैं किन्तु हुस्सर्ल की यह धारणा है कि विषयी हमारे समस्त अनुभव का पूर्ववर्ती है। विषयी को प्राथमिक महत्त्व प्रदान करने की प्रवृत्ति हमारे प्राकृतिक दृष्टिकोण में मूलभूत परिवर्तन करती है। क्योंकि जिसके केन्द्र में विषय है और वह उसे विषयी से स्वतन्त्र एवं पूर्वगामी मानती है।'[2]

प्राकृतिक दृष्टिकोण में मूलभूत परिवर्तन का कारण अनुभवातीत अपचयन है क्योंकि इससे शुद्ध आत्मा अथवा अनुभवातीत विषयिता का उद्घाटन होता है। यह प्रतिमान–स्थानान्तरण भी प्रस्तावित करता है कि 'केवल अनुभवातीत विषयिता ही तात्त्विक अर्थ में निरपेक्ष सत् है। यद्यपि यथार्थ जगत् वस्तुतः अस्तित्ववान है, किन्तु सार की दृष्टि से अनुभवातीत विषयिता के सापेक्ष है एवं इस प्रकार से अस्तित्वात्मक सत्ता के रूप में उसकी अर्थवत्ता अनुभवातीत विषयिता के विषयापेक्षी अर्थ उत्पाद के रूप में है। अतः हुस्सर्ल अपनी दार्शनिक कार्ययोजना में असमीक्षात्मक वस्तुनिष्ठता एवं स्वेच्छाचारी विषयिनिष्ठता से बचने की चेष्टा करते हैं।

II

संज्ञान की संरचना से सम्बन्धित मौलिक प्रश्नों को लेकर भी काण्ट एवं हुस्सर्ल के दार्शनिक चिन्तन के उद्देश्य एवं लक्ष्य में समानता देखी जा सकती है। काण्ट स्वयं को वस्तुनिष्ठ ज्ञान के आकारिक संरचना तक ही सीमित करते हैं, जबकि हुस्सर्ल विषयापेक्षी सिद्धान्त के माध्यम से मात्र संज्ञान की संरचना को ही प्रस्तुत नहीं करते बल्कि अपनी शुद्ध फिनोमिनोलॉजकीय दृष्टि के द्वारा चेतना के स्वरूप को भी उद्घाटित करते हैं जो कि केवल आकारिक ज्ञान की आधारशिला नहीं है, अपितु समस्त ज्ञान का अधिष्ठान है। 'काण्ट दर्शन को ह्यूमकृत उभयतः पाश (संशयवादी) से बचाने के लिए अनुभवातीत विषयिता के महत्त्व को स्वीकार करते हैं, किन्तु विषयिता की शुद्धता स्वयं में वस्तु (परमार्थ) की स्वीकृति से खण्डित हो जाती है। इस कारण से काण्ट उस स्वरूप को देख नहीं पाते जहाँ वह सार्वभौम विज्ञान, सम्पूर्ण वस्तुनिष्ठता के बौद्धिकीकरण का प्रापक बनता है। उनका दर्शन ज्ञान की औपचारिक समीक्षा तक ही केन्द्रित हैं जो तर्कबुद्धि

का एक तरह से सीमा निर्धारण है। ऐसा सीमांकन जहाँ किसी भी प्रकार उसके अधिकार क्षेत्र के विस्तार की कोई संभावना नहीं बनती है।'[4] हुस्सर्ल ने काण्ट की इस प्रकार की दार्शनिक च्युतियों को रेखांकित करने का भी व्यवस्थित प्रयास करते हैं जिसके कारण काण्टीय क्रान्ति के वांछित परिणाम नहीं प्राप्त हुए।

(1) काण्ट प्रागनुभविक के प्रत्यय को सही अर्थ में ग्रहण नहीं करते जिसके फलस्वरूप वे अनाकारिक अथवा पदार्थगत प्रागनुभविक, (बोलजानो के पदावली में 'इडियोस') की आवश्यकता को नहीं स्वीकार करते, अतएव उसकी परिणति खण्डित विश्लेषण में होना स्वाभाविक है।

(2) काण्ट कठोरतापूर्वक संवेदन एवं बुद्धि के द्वैत की स्थापना करते हैं और अन्त तक उसे बनाये भी रखते हैं।

(3) काण्ट चेतन क्रिया (नोयसिस) एवं चेतना प्रदत्त अर्थ (नोइमा) में विभेद नहीं करते और इस प्रकार उनके चेतना के अध्ययन में चेतन क्रिया अथवा व्यापार का विश्लेषण उपेक्षित रह जाता है।

(4) काण्ट अनुभवातीत अपचयन के महत्त्व को स्वीकार नहीं करते हैं।

(5) काण्ट प्रामाणिक अनुभवातीत अनूभूति की संभावना को नहीं समझ पाते हैं।

(6) काण्ट के 'स्वयं में वस्तु' का खण्डन आवश्यक है एवं इसी के साथ संवृत्ति के प्रत्यय का पुनर्विश्लेषण भी अपेक्षित है।

(7) काण्ट विषयी की प्राकृतिक एवं मनोवैज्ञानिक अवधारणा को स्वीकार करते हैं और जिसके फलस्वरूप वे अनुभवातीत विषयिता के महत्त्व को नहीं समझ पाते हैं।

(8) काण्ट यह देखने में असफल होते हैं कि आन्तरिक काल चेतना का संघटन गहनतम स्तर है, जहाँ तक समस्त संघटनात्मक समस्याओं का सम्बन्ध है।

(9) काण्ट यह अनुभूत नहीं कर सके कि वैज्ञानिक वस्तुओं के संघटन से सम्बन्धित समस्या जीवन–लोक के मौलिक संघटन से सम्बन्धित समस्या को पूर्वकल्पित करती है।

(10) काण्ट कभी औपचारिक तर्कशास्त्र के अनुभवातीत अध्ययन को विकसित नहीं कर सके।

(11) काण्ट की प्रतिगामी रचनात्मक विधि अनुभवातीत समस्याओं के समाधान में पूर्णतया अनुपयुक्त है, उनकी विधि उस विधि से प्रतिस्थापित होनी चाहिए, जिसमें अव्यवहित अन्तःप्रज्ञा के आधार पर आद्यप्रदत्त की गवेषणा एवं निरूपण संभव हो।[5]

III

अब यदि हुस्सर्ल ने काण्ट के आगे दर्शन के क्षेत्र में वैचारिक क्रान्ति की है (जिसके विषय में मैं पर्याप्तरूपेण सुनिश्चित हूँ) तो यहाँ अपेक्षित है कि उसके स्वरूप को विश्लेषित किया जाय। यहाँ पुनः ध्यातव्य है कि यदि हम हुस्सर्ल की फिनोमेनोलॉजी को द्वितीय कॉपरनिकसीय क्रान्ति के रूप में विश्लेषित करना चाहते हैं तो यह हमारा दायित्व है कि तार्किक दृष्टि से उसके औचित्य को प्रदर्शित किया जाय। हुस्सर्ल ने 'कार्टेशियन मेडिटेशन्स' में यह प्रस्तुतः किया है कि वस्तुनिष्ठ जगत् को खोना आवश्यक है जिससे कि उसकी प्राप्ति सार्वभौम आत्मचेतना के क्षेत्र मैं हो सके। वे डेकार्ट के 'इगो कोजिटो' की एकात्मकता अनुभवातीत विषयिता से प्राप्त करने का प्रयास करते हैं एवं इसका विचार 'अनुभवातीत अन्तर्विषयिता' में करना चाहते हैं। इसी प्रकार मार्विन फार्बर आत्मा को अस्तित्वात्मक तत्त्वमीमांसीय सत्ता के रूप में स्थापित करने की प्रवृत्ति को 'ज्ञान की शर्त पर सत्ता की शर्त' में स्थानान्तरण स्वीकार करते हैं। प्राकृतिक आनुभविक दृष्टिकोण का अतिक्रमण तब होता है जब आत्मा 'विषयिता का अनुचिन्तन करने के लिए बाध्य' होती है जो कि उसके प्राकृतिक जगत् के समस्त अनुभव एवं ज्ञान का अधिष्ठान है। अतः फिनोमिनोलॉजी वस्तुनिष्ठता के सिद्धान्त को विषयिनिष्ठता के तत्त्व में अवस्थित करने का प्रयास है। यह कहा जा सकता है कि फिनोमिनोलॉजिकीय अपचयन में वस्तु की वस्तुनिष्ठता मात्र चेतना के व्यापार का सहसम्बन्ध है। काण्ट वर्गणाओं को चेतना के आरेख के रूप में स्वीकार करते हैं तो वहीं हुस्सर्ल दार्शनिक अन्वेषण को नया आयाम देते हैं। उनकी दृष्टि में सारतत्त्वीय संरचना स्वयं में अतीन्द्रिय चेतना को संरचित करती है जिसमें जगत् का प्रत्यय अपने महत्त्वपूर्ण आकृतियों के साथ सन्निविष्ट होता है।

इस तरह हुस्सर्ल की फिनोमिनोलॉजी के स्परूप को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :

(1) प्रथम यह कि अतीन्द्रिय सारतत्त्वीय संरचना का अध्ययन मौलिक अन्तःप्रज्ञा की विधि से संभव है जिसे हुस्सर्ल शुद्ध फिनोमिनोलॉजी की संज्ञा देते हैं। वे 'शुद्ध फिनोमिनोजॉजी को विज्ञान के रूप में

परिभाषित करते हैं जो मात्र सारतत्त्व का अनुसंधान करती है और इस प्रकार उसका सरोकार न तो अस्तित्व और न ही आत्मनिरीक्षण की गवेषणा से है।'[6]

(2) द्वितीय यह कि फेनोमिनोलॉजी वस्तु को विषयी या ज्ञाता के विषयीकरण क्रिया की संरचना के रूप में देखने का प्रयास है। अनुभवातीत फिनोमेनोलॉजी अथवा प्रथम दर्शन में अनुभवातीत अपचयन की महत्त्वपूर्ण भूमिका है जिसके फलस्वरूप समस्त विज्ञान के मौलिक अधिष्ठान के रूप में प्रथम दर्शन प्रतिष्ठित होता है। यहाँ तथ्य एवं सारतत्त्व को अनुभवातीत आत्मा की संरचना के रूप में स्वीकार किया जाता है, क्योंकि इन्हें अनुभवातीत आत्मा से स्वतन्त्र एवं पूर्ववर्ती नहीं माना जा सकता–अर्थात् आनुभविक प्राकृतिक दृष्टिकोण का निषेध अनुभवातीत अपचयन से न केवल संभव है बल्कि उसका पूर्वशर्त भी है।

(3) तृतीय यह कि अतीन्द्रिय प्रत्ययवाद को हुस्सर्ल के फिनोमिनोलॉजकीय कार्ययोजना की तार्किक परिणति कहा जा सकता है जो कि डेकार्ट के अधिष्ठानवाद की मूलगामिता है। यह प्राकृतिक तत्त्वशास्त्र का उत्क्रमण है। 'सहजबुद्धिवादी सत्तामीमांसा के अनुसार, मन अथवा मस्तिष्क तात्त्विक दृष्टि से भौतिक जगत् पर निर्भर करता है, जबकि अतीन्द्रिय प्रत्ययवाद का दावा है कि प्रकृति कुछ नहीं अपितु चेतना का विषयापेक्षी सहसम्बन्ध है। प्रकृति अथवा जगत् चेतना पर अपने अस्तित्व के लिए विचार करते हैं जबकि चेतना की एक निरपेक्ष और स्वतन्त्र सत्ता है।'[7] तात्त्विक उत्क्रमण अथवा क्रान्ति से मौलिक सम्बन्ध का सशक्त परिवर्तन निःसृत होता है। मौलिक सम्बन्ध की स्वीकारोक्ति है कि मन अथवा चेतना भौतिक प्रकृति पर आश्रित है, जबकि प्रस्तावित सम्बन्ध अनुभवातीत चेतना की निरपेक्ष सत्ता को कल्पित करता है एवं इस प्रकार सम्पूर्ण प्राकृतिक जगत् जिसमें मानव मस्तिष्क अथवा मन भी अन्तर्विष्ट होता है, अनुभवातीत चेतना के विषयापेक्षी सहसम्बन्ध पर तात्त्विक दृष्टि से निर्भर है। हुस्सर्ल इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अनुभवातीत अपचयन एक तात्त्विक क्रान्ति है जो कि संवृत्ति–जगत् को चेतनाप्रक्षेपण में घटित करता है।

अतएव इस प्रकार की दार्शनिक मूलगामिता हुस्सर्ल के विचार में निश्चय ही एक क्रान्तिकारी पक्ष को उद्‌घाटित करती है। यह समस्त ज्ञान एवं अनुभव के मूल अथवा अधिष्ठान की गवेषणा है। मूलगामिता का निहितार्थ है' पूर्वमान्यताओं से मुक्ति' अर्थात् यह उन पूर्वमान्यताओं का निषेध है जिसका सम्यक् परीक्षण नहीं किया गया है। समकालीन दार्शनिक टेलर, एयर एवं पोन्ती आदि ने हुस्सर्ल के इस दावे का खण्डन किया है कि फिनोमेनालॉजी एक पूर्वमान्यता रहित गवेषणा है।

पोन्ती के अनुसार दर्शनशास्त्र का निर्बाध प्रारंभ संभव नहीं क्योंकि वह इतिहास भी है, अतएव वह जगत् एवं बुद्धि का प्रयोग करता है जो कि पूर्व सृजित अथवा संरचित होते हैं। एयर की दृष्टि में फिनोमिनोलॉजी की एक महत्त्वपूर्ण पूर्वमान्यता यह है कि वस्तु की सत् एवं चेतना के सत् में तादात्म्य है। एक और महत्त्वपूर्ण पूर्वमान्यता जिसका हुस्सर्ल खण्डन करते हैं वह दृश्यमान जगत् के अस्तित्व की पूर्वमान्यता है। इसीलिए हुस्सर्ल फिनोमिनोलॉजिकीय कोष्ठकीकरण के सिद्धान्त को प्रस्तावित करते हैं जिसके अनुसार जगत् की यथार्थता से सम्बन्धित विश्वास को फिनोमिना अथवा सारतत्त्व के पक्ष में स्थगित अथवा निलम्बित करना है। अनुभववादी दार्शनिक इस प्रकार तर्क कर सकते हैं कि फिनोमिना (संवृत्ति) की सत्ता को स्वीकार करना वस्तुतः बाह्य जगत् की वस्तुओं की सत्ता को स्वीकृत करने का दूसरा ढंग है। हुस्सर्ल अत्यन्त ही सरलता से अनुभववादी आक्षेप का उत्तर दे सकते हैं कि हम जगत् की सत्ता का निषेध नहीं करते, अपितु जगत् से सम्बन्धित विश्वास को स्थगित करते हैं। अतः फिनोमिनोलॉजिकीय विधि एवं विषयापेक्षी सिद्धान्त दार्शनिक मूलगामिता की सिद्धि के महत्त्वपूर्ण उपकरण हैं। फिनोमिनोलॉजिकीय गवेषणा 'वस्तु (मूल) की ओर वापस जाना' का निहितार्थ यह है कि हमें वस्तुओं का सामना इस प्रकार करना चाहिए, जिस रूप में वे चेतना के द्वारा अनुभूत होती हैं, अर्थात् उन्हें सैद्धान्तिक अथवा तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यताओं से मुक्त होना चाहिए। हमें अवश्य अनुभव की ओर लौटना चाहिए, जिसे अनुभवातीत अनुभव, शुद्ध चेतना का क्षेत्र अथवा 'शुद्ध विषयिता' से अभिहित किया जा सकता है। हुस्सर्ल इसे सभी आश्चर्यों का आश्चर्य कहते हैं। यह आश्चर्य सत् अथवा अस्तित्व में निहित नहीं होता, अपितु आश्चर्य की अनुभूति उस सत् में होती है जिसे अपने स्व का बोध है।

IV

फिनोमिनोलॉजिकीय दर्शन 'मौलिक आद्य प्रदत्त' की कभी न समाप्त होने वाली गवेषणा है। अतः इसी कारण से अनुसंधान की विषयवस्तु हुस्सर्ल के वैचारिकी की विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होती रहती है। इस दृष्टि से हुस्सर्लीय फिनोमिनोलॉजी को उसकी चार अवस्थाओं के माध्यम से उसके क्रान्तिकारी पक्ष को निरूपित किया जा सकता है :

(1) वर्णनात्मक फिनोमिनोलॉजी – 'लॉजिकल इन्वेस्टिगेशन' के प्रथम संस्करण में हुस्सर्ल 'वर्णनात्मक मनोविज्ञान' का प्रयोग शुद्ध रूप से वर्णनात्मक, अ–अपचयनात्मक अधिगम संवृत्ति के लिए प्रयुक्त करते हैं। वे कालान्तर में मनोविज्ञानपरतावाद का खण्डन करते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि वर्णन न तो अपचयन और न ही परिकल्पना है, अपितु वर्णन का उद्देश्य पूर्वमान्यताओं से रहित दार्शनिकीकरण है। वह इस कारण से काण्ट के 'संवृत्ति एवं परमार्थ' तथा हीगेल के 'परिकल्पनात्मक' चिन्तन का विरोध करते हैं। अव्यवहित अनुभूति में 'प्रदत्त' संवृत्ति का वर्णन न तो व्याख्या है और न ही स्पष्टीकरण अथवा सृजन है।

(2) सारतत्त्वीय फिनोमिनोलॉजी – हुस्सर्लीय फिनोमिनोलॉजी का सारतत्त्वीय दृष्टिकोण मात्र संवृत्ति के वर्णन से सन्तुष्ट नहीं होता, अपितु संवृत्ति में सारतत्त्व के अन्वेषण से तृप्ति अथवा लक्ष्य की प्राप्ति होती है। सारतत्त्व न तो आदर्श रूप और न ही मनोवैज्ञानिक सत् है, अपितु चेतना को प्रदत्त विषयापेक्षी वस्तुयें हैं। हुस्सर्ल की 'इपोखे' अतीन्द्रिय को कोष्ठित करने की तकनीक है जिससे 'स्वयं में वस्तुओं' की प्राप्ति होती है, जोकि अन्तर्भूत सारतत्त्व के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

(3) उत्पत्तिमूलक फिनोमिनोलॉजी – इसका प्रमुख कार्य यह प्रदर्शित करना है कि ज्ञान के विभिन्न क्षेत्र में वस्तुओं के अर्थ की उत्पत्ति अर्थनिर्धारक चेतन क्रिया से संभव होती है। यह क्रिया विषयों को सृजित नहीं करती, अपितु इसमें विषय उद्घाटित होते हैं। अर्थ–निर्देशित क्रिया अर्थ–निर्धारक चेतना की विषयापेक्षी उपलब्धि है। चेतना क्रिया (नोयसिस) निर्धारक क्रिया का प्रतीक है जबकि चेतना–प्रदत्त अर्थ (नोइमा) चेतन–क्रिया का आदर्श सह–सम्बन्ध है। उत्पत्ति मूलक संघटन का सिद्धान्त स्थैतिक पुनरर्वोज नहीं है, अपितु गत्यात्मक प्रक्रिया है जो कि बहुस्तरीय अर्थ संरचना को संदर्भ बनाती है। अतः 'फिनोमेनोलॉजी जगत् में निहित वस्तु एवं सत्ता का विज्ञान है, जिसका संदर्भ ऐहिक अस्तित्व एवं सत्ता नहीं, अपितु अर्थ है जो अनुभवातीत चेतना के विषयापेक्षिता में निहित होता है।'[8]

(4) अनुभवातीत विषयिनिष्ठता केन्द्रित फिनोमिनोलॉजी – 'अनुभवातीत चेतना' के जीवन में समस्त अर्थ अभिप्रेत अनुभव में अवस्थित होते हैं। यहाँ तक कि स्वयं हमारा अतीन्द्रिय क्षेत्र भी उसमें समाहित होता है। हुस्सर्ल आनुभविक अहं एवं अनुभवातीत अहं में विभेद करते हैं और उसमें केवल परवर्ती ही अनुभवातीत अनुभूति में प्रदत्त होता है। अहं ही केन्द्रबिन्दु है जिससे समस्त विचार विकसित होते हैं और इस अर्थ में यह विषयिता का अन्तिम स्रोत है। हुस्सर्ल इसे अनुभवातीत अहं की संज्ञा देते हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त वे आनुभविक अहं को भी स्वीकार करते हैं जो कि धारणा एवं स्वभाव से निर्मित होता है। अनुभवातीत अहं एवं आनुभविक अहं की तुलना अद्वैती परम्परा के आत्मा एवं जीव से संभव है।[9] यद्यपि हमारी यह मान्यता है कि इस प्रकार की तुलना में हमें सम्प्रत्ययात्मक विभेद एवं सांस्कृतिक परिदृश्य में अन्तर की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए – क्योंकि जहाँ पर अद्वैती परम्परा में शुद्ध चैतन्य की अवधारणा प्राप्य है वहीं फिनोमेनोलॉजी के अन्तर्गत चेतना का स्वरूव सदैव विषयापेक्षी रहता है। अनुभवातीत चेतना अपने बौद्धिक संघटनात्मक क्रिया के कारण हुस्सर्लीय वस्तुनिष्ठता की व्याख्या में सक्षम होती है।

इस प्रकार हुस्सर्ल अनुभवातीत फिनोमेनोलॉजिकीय अपचयन की उत्तरोत्तर श्रृंखला के माध्यम से अनुभवातीत अहं को उद्घाटित करते हैं जो कि सत्ता, वस्तुनिष्ठता, सत् एवं सत्य का स्रोत है। वे इसके अतिरिक्त यहाँ भी निरूपित करने का प्रयत्न करते हैं कि किस प्रकार अनुभवातीत अहं का संघटन करता है जो कि अंतर्विषयिक समुदाय के समान भागीदार होते हैं और जिसकी परिणति वस्तुनिष्ठ अन्तर्विषयिक जगत् के अधिष्ठान की निर्मिति है। अतः ईश्वर के स्थान पर हुस्सर्ल अनुभवातीत अन्तर्विषयिता के प्रत्यय को वस्तुनिष्ठता की आधारशिला के रूप में प्रस्तावित करते हैं। यह वस्तुनिष्ठ जगत् की पूर्वमान्यता के रूप में सभी के लिए स्वीकृत है, जो निःसंदेह हुस्सर्लीय फिनोमिनोलॉजी के क्रान्तिकारी पक्ष को उद्घाटित करता है। अनुभवातीत अहं अन्तिम अवशेष है जिस पर कोष्ठीकरण (इपोखे) का क्रियान्वयन संभव नहीं है। इसका स्वरूप विषयापेक्षी है एवं इसकी विषयापेक्षिता को हम कोष्ठित नहीं कर सकते हैं। यदि हुस्सर्ल को इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए बाध्य किया जाये कि : क्या अनुभवातीत अहं को अपने अस्तित्व के लिए वस्तुनिष्ठ जगत् का संघटन (निर्मिति) करना अनिवार्यता है ? तो उत्तर स्वीकारात्मक होगा। हमारी दृष्टि में यह मूलगामिता की असफलता

एवं वस्तुनिष्ठता को अनुभवातीत विषयिता में अवस्थित करने का उसी प्रकार का प्रयत्न है, जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त का साक्षी–सिद्धान्त समस्त वस्तुनिष्ठता को संपोषित एवं संरक्षित रखता है।

V

अनुभवातीत फिनोमिनोलॉजी की परिणति जीवन–लोक के अन्वेषण में होती है जो कि अत्यन्त मौलिक सजीव अनुभूतियों का स्रोत है एवं समस्त अर्थ प्रदान करने वाली क्रिया का अपरिवर्तनीय आधार है। जीवन–लोक जो कि हम सबका सामान्य लोक है, उसके दो विशेषक हैं–यह विभिन्न जगत् में अन्तर्व्याप्त एवं यह इन सबों का अतिक्रामी भी है। यह वह जगत् है जिसमें मनुष्य स्वयं को जीवित चैतन्य प्राणी के रूप में अनुभव करता है। जगत् ने अतिवैज्ञानिकता के प्रभाव में इतना वस्तुनिष्ठ विघटन अनुभव किया है कि आत्मनिष्ठता का अन्तिम अवशेष भी समाप्त हो गया है। मनुष्य केवल परमाणुओं का संघटन है जो कि निश्चित गणितीय विज्ञान के द्वारा पूर्णरूपेण निर्धारित है। अतः फिनोमेनोलॉजी का उपयुक्त कार्य होगा – मनुष्य के जीवन–लोक एवं तर्कबुद्धि की पुनर्प्रतिष्ठा। अतः इस कारण से सांसारिक धरातल पर यह जीवन–लोक का विज्ञान है तो वहीं अनुभवातीत स्तर पर सार्वभौम आत्म–चैतन्य अथवा बुद्धि का विज्ञान है। जीवन–लोक वस्तुतः प्राग–वैज्ञानिक लोक एवं विज्ञान के वस्तुनिष्ठ जगत् की आधारशिला है। यह अत्यन्त ही सहज और हमारे समस्त कर्मों एवं विचारों का प्राकृतिक क्षेत्र है। यह हमारे सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक निष्पादन का मंच है जो हमारे सार्वभौम क्षेत्र के रूप में प्रदत्त है।[10] हुस्सर्ल ने यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया कि जीवन लोक का प्राग–वैज्ञानिक, प्राग–विधेयात्मक क्षितिज वस्तुनिष्ठ विज्ञानों की समस्त संरचनाओं का पूर्ववर्ती है।' वे जीवन–लोक तथा तथाकथित विज्ञान द्वारा संरचित वस्तुनिष्ठ जगत् में विभेद करते हैं क्योंकि विभिन्न विज्ञानों का जगत् आदर्श संरचना है जिसके प्रारूप के लिए जीवन–लोक की आवश्यकता है। प्राकृतिक गणितीय विज्ञान का जगत् एक सैद्धान्तिक संरचना है जो न तो साक्षात् अनुभव है और न ही किसी अन्य अपरोक्ष अवबोध को प्रदत्त है। जीवन–लोक अ–ऐतिहासिक नहीं है अपितु यह ऐतिहासिक मान्यताओं को धारण करता है और इस रूप में हमारा जीवन–लोक सामूहिक धरोहर है जो विभिन्न सांस्कृतिक उत्पादों को सन्निहित करता है। यह स्थैतिक नहीं, अपितु इसमें गत्यात्मकता अन्तर्निहित है। गैलेलियो से प्रारंभ होने वाले वैज्ञानिक प्रभाव के कारण लीवन–लोक उपेक्षित एवं

आत्मनिष्ठ तथा सापेक्ष के रूप में निन्दनीय रहा। यही कारण है कि जीवन–लोक को कभी भी गंभीरतापूर्वक ग्रहण करने और वैज्ञानिक दृष्टि से समझने एवं खोजने का प्रयास नहीं हुआ। यह जीवन–लोक की विस्मरणशीलता ही आधुनिक विज्ञान के संकट का प्रमुख कारण है। हुस्सर्ल ने जिसे यूरोपीय विज्ञान का संकट कहा है वह एक आंतरिक संकट नहीं अपितु वाह्य है–जीवन की अर्थवत्ता का लोप। हुस्सर्ल की दृष्टि में पाश्चात्य मस्तिष्क जगत् की वैज्ञानिक व्याख्या के प्रति मोहासक्त है और इस कारण से विशेष अपचयन (संस्कृति एवं विज्ञान का अपचयन) जीवन–लोक के सारभूत संरचना को अनावृत करने के लिए आवश्यक है। अतः इस अपचयन के पश्चात् अनुभवातीत अपचयन हमें जीवन–लोक की संरचना के पार्श्व में अनुभवातीत आत्मनिष्ठता की क्रियात्मक विषयापेक्षा के प्रच्छन्न उपलब्धियों का बोध कराता है। इस अपचयन के फलस्वरूप हम जीवन–लोक की तात्त्विकता के अध्ययन के योग्य होते हैं। इसे ही हुस्सर्ल 'लौकिक फिनोमेनोलॉजी' की संज्ञा देते हैं और उनके अनुसार यह फिनोमेनोलॉजी अनुभवातीत फिनोमिनोलॉजी की अनिवार्य शर्त है।

जीवन–लोक सामाजिक एवं सांस्कृतिक लोक है, जबकि विज्ञान में प्राकृतिक तथ्यात्मक जगत् का वर्चस्व स्वीकार किया गया है। यदि विभिन्न सामाजिक–ऐतिहासिक कालों का अपना विशिष्ट जीवन–लोक है तो यह अवधारणा सापेक्षतावाद के आक्षेप से नहीं बच सकती है। हुस्सर्ल किन्तु यह सुझाव देते प्रतीत होते हैं कि एक सामान्य अनिवार्य संरचना सभी जीवन–लोकों में पायी जाती है, किन्तु यह अनिवार्यता तथाकथित वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक जगत् में नहीं देखी जा सकती है।[11] उनके अन्वेषण का लक्ष्य चेतन क्रिया–चेतन प्रदत्त अर्थ सहसम्बन्ध के मौलिक सिद्धान्त के आधार पर सभी संभाव्य जीवन लोकों की अनिवार्य संरचना को उद्‌घाटित करना है। जीवन–लोक में मनुष्य प्राकृतिक वस्तुओं का अनुभव तीन रूपों में करता है – 1. उनसे विपरीत अथवा पृथक् सत्ताओं का अतिवर्ती अस्तित्व के रूप में। 2. सामान्य जगत् के मूल एवं आधारशिला में सहभागिता के रूप में। 3. वैयक्तिक विलक्षणता एवं विशिष्टता की अभिव्यक्ति आत्मीयता के रूप में। पुनः हुस्सर्ल दर्शन की समीक्षा जीवन–लोक के दृष्टिकोण से करते हैं जिसके द्विविध आयाम हैं– 1. वे देकार्त से प्रारंभ हो रहे आधुनिक पाश्चात्य दर्शन का परीक्षण करते हुए उसे वस्तुनिष्ठवाद एवं अतीन्द्रियवाद का संघर्ष मानते हैं। 2. वे दर्शन एवं जीवन–लोक के जटिल सम्बन्ध की गवेषणा करते हैं। हुस्सर्ल ने काण्ट के

दर्शन की समीक्षा इसी रूप में की है– 1. काण्ट की आदर्श वस्तुनिष्ठता के प्रति मोहासक्ति, 2. चेतना के प्रत्यय की मूलभूतता अर्थ प्रदत्तता के रूप में, और 3. जीवन लोक को उपेक्षित करने की प्रवृत्ति के रूप में। काण्टीय अतीन्द्रिय दर्शन सीमित एवं अवरूद्ध अनिवार्य वस्तुनिष्ठता के कारण होता है और इसे सीमितता से स्वतंत्र करने की आवश्यकता है जिससे कि अप्रत्यक्ष किन्तु सदैव कार्यरत जीवन–लोक की संरचना का अन्वेषण हो।[12]

हुस्सर्ल जगत् की संरचना के सम्बन्ध में अनुभवातीत विषयिता के मूर्तिकरण का उल्लेख करते हैं, अतः उनके जीवन–लोक को प्राकृतिक जगत् में सीमित करना अनुचित है, क्योंकि यह मानवीय एवं सांस्कृतिक जगत् है। बर्गर ने जीवन–लोक के प्रत्यय के महत्त्व को इस रूप में रेखांकित किया कि "आधुनिक मनुष्य गृहहीनता के गहराते संकट से त्रस्त हैं, यह उसकी तत्त्वमीमांसीय क्षति है।" हुस्सर्ल के जीवन–लोक के प्रत्यय का उद्देश्य संप्रत्ययात्मक सापेक्षिकतावाद एवं वैज्ञानिक यथार्थवाद को प्रत्युत्तर देना था। वैज्ञानिक दृष्टि से यथार्थ हमारे जगत् के वास्तविक अनुभवों से अत्यन्त पीछे हट गया और साथ ही साथ वे इस बात पर भी बल देते हैं कि संस्कृतियों की विश्वदृष्टि में भेद तो पाये जाते हैं किन्तु उसमें व्याप्त एक जीवन–लोक की एक अपरिवर्तनीय संरचना होती है जिसमें हम सब शामिल होते हैं।[13] अतः हुस्सर्ल के जीवन–लोक का प्रत्यय अतिवैज्ञानिकता के प्रति विद्रोह को परिलक्षित करता है।

VI

सम्प्रति हुस्सर्ल के विश्वविख्यात अध्येताओं में विशिष्ट प्रोफेसर जे. एन.मोहन्ती ने हुस्सर्ल की फिनोमिनोलॉजी के उद्देश्य एवं निहितार्थ को विश्लेषित करने का मौलिक प्रयत्न किया है, उनके अनुसार उपयुक्त फिनोमिनोलॉजिकीय विवरण का वास्तविक कार्य जगत् की वस्तुओं और सत् के क्या और क्यों को प्रस्तुत करना नहीं है, अपितु उसका अभीष्ट अर्थ का स्पष्ट अवबोध है जो कि अन्तःप्रज्ञात्मक पृष्टपोषण से युक्त है। वे इसके अतिरिक्त यह भी प्रदर्शित करते हैं कि 'फिनोमिनोलॉजी अब सारतत्त्व का आकारिकी विज्ञान नहीं है, अपितु अर्थ स्पष्टीकरण का भूलगामी प्रयास है.... जबकि सारतत्त्व का अनुसरण असंदिग्ध सत्य के आदर्श से निर्देशित है और अर्थ के स्पष्टीकरण क़ी क्रिया मौलिक अनुभूति के प्रतिगमन के लक्ष्य से प्रेरित है।'[14] अतः अनाधारीय अनापचयी अनुभवातीत दर्शन ऐतिहासिक कार्य योजना की वैधता को स्वीकार करता है जिसमें विषयापेक्षी अन्तर्वैषयिक

चेतना के मुक्त ढाँचे हैं जो न्यूनतम सामान्य संरचना को समाहित करते हैं। इसके अन्तर्गत किसी भी प्रकार का संघटन संभव है। अर्थ के मौलिक (यथार्थ) स्रोत की गवेषणा अंततः जीवन–लोक एवं अनुभवातीत विषयिता के प्रत्यय को निरूपित करती है। हुस्सर्ल अपने क्रान्तिकारी दृष्टिकोण में प्राकृतिक ज्ञान एवं प्रत्यक्ष से प्राप्त जगत् की संरचना से सम्बन्धित स्थायी, अनिवार्य एवं असंदिग्ध तत्त्व की कोई अनिवार्यता नहीं देखते हैं। जगत् में मनुष्य एवं जगत् के बीच एक प्रकार का शाश्वत संसर्ग पाया जाता है। यह संसर्ग अथवा व्यापार विचार, संवेदन एवं प्रत्यक्ष, चेतन क्रिया–चेतना प्रदत्त अर्थ सह–सम्बन्ध से सम्भव होता है, और इस प्रकार यह सभी केवल हमारे ज्ञान के माध्यम ही नहीं है, अपितु इनके द्वारा मनोदैहिक जीवन का सम्पादन होता है। हमारी जगत् में सत्ता हमारे विषयापेक्षी एवं अर्थनिर्धारक स्वरूप निर्दिष्ट वस्तुओं, जिसकी स्वायत्तता को वह कभी आक्रान्त नहीं करता, से उद्घाटित होती है।[15]

द्रष्टव्य है कि काण्ट एवं हुस्सर्ल के दर्शन को अतीन्द्रियवाद से अभिहित किया जाता है, जो कि अनुभव एवं ज्ञान के अधिष्ठान को अनावृत्त करने की चेष्टा है। यह उनकी संभावना को विषयिता के प्रागनुभविक संरचना में परिभाषित करना है। हुस्सर्ल काण्ट के अतीन्द्रिय दर्शन को विकसित एवं परिष्कृत करते हुए दार्शनिक कार्य योजना के आन्तरिक निहितार्थ को सुस्पष्ट करते हैं। काण्ट एवं हुस्सर्ल में अन्तर 'अतीन्द्रिय' एवं 'अनुभवातीत' के सम्बन्ध के संदर्भ में है। काण्ट के अनुसार 'अतीन्द्रिय' वह है जो चेतना में सन्निहित नहीं है जबकि हुस्सर्ल की यह मान्यता है कि 'अतीन्द्रिय सत्ता' चेतना में संघटित होती है। अतएव वह अनुभवातीत है। अतीन्द्रिय एवं अनुभवातीत में विभेद संघटित एवं संघटक का विभेद है। काण्ट अनुभवातीत समस्याओं के संपूर्ण उद्देश्य और निहितार्थ को नहीं समझ सके। वे उसे वैज्ञानिक प्रकृति के क्षेत्र अर्थात् शुद्ध गणित तथा भौतिकी की संभावना से सम्बन्धित प्रश्न तक सीमित कर देते हैं। जगत् के लक्ष्यगर्भित व्यवहार एवं अभिरुचि, प्राग–वैज्ञानिक (प्राग–विधेयात्मक) जगत् जिसमें हम जीते हैं, काण्ट उसकी उपेक्षा करते हैं । अतः काण्टीय अन्वेषण के द्वारा उद्घाटित अनुभवातीत विषयिता औपचारिक सिद्धान्त मात्र है। हुस्सर्ल चेतना के मूर्त जीवन के अन्तर्गत विषयापेक्षिता के बहुविध सम्बन्ध, विषयापेक्षी निष्पत्तियों एवं अर्थ निर्धारक क्रियाओं आदि को समाहित करते हैं और उसके फलस्वरूप हुस्सर्ल के दर्शन में अनुभवातीत गवेषणा मूर्त

स्वरूप धारण करती है। अतः इस आधार पर निष्कर्षरूपेण कहा जा सकता है कि हुस्सर्ल काण्ट के अपूर्ण कार्य अथवा निष्पत्तियों को पूर्णता प्रदान करते हैं अथवा काण्टीय कॉपरनिकसीय क्रान्ति अन्ततः हुस्सर्लीय फिनोमिनोलॉजी में अपने अन्तर्निहित निष्पत्तियों के साथ निष्पादित होती है।

VII

इस प्रकार मैं यह समझता हूँ कि हुस्सर्लीय फिनोमिनोलॉजी का अत्यन्त मौलिक एवं क्रान्तिकारी दावा यह है कि चेतना जगत् को संघटित अथवा संरचित करती है। इसे चेतना की विषयापेक्षिता के मूलगामिता के अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है। चेतना व्याख्यात्मक एवं अर्थ प्रदायनी है और 'जगत् के संघटन' का अध्ययन उस अर्थ के उद्‌भव के अन्तिम उत्स, जो कि अनुभवातीत चेतना है, तक जानने का प्रयास है। अनुभवातीत दर्शन हमारे अनुभव के वृहद् निरपेक्ष लक्षण के अवबोध का प्रयत्न एवं जगत् को मानवीय विषयिता के पदावली में परिभाषित किये जाने का प्रयास है। यह समस्त संरचनाओं एवं व्यवस्थाओं, अर्थ एवं व्याख्याओं का स्रोत है। काण्ट की न्यूटनकृत भौतिकी एवं युक्लिडीय ज्यामिती के प्रति प्रतिबद्धता जगत् निरूपण में परिलक्षित होती है। काण्ट के 'क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन' का उद्‌देश्य सत्य के शर्तों की गवेषणा अर्थ की तुलना में अधिक है। किन्तु अर्थ का प्रत्यय सत्य के प्रत्यय की अपेक्षा पूर्वगामी एवं अधिक मौलिक है, अतः हुस्सर्लीय दार्शनिक प्रयास काण्ट की तुलना में कहीं अधिक क्रान्तिकारी एवं सृजनात्मक है। काण्टीय ज्ञानमीमांसा में मानवीय ज्ञान एवं अनुभव का तार्किक विश्लेषण किया गया है और वे अतीन्द्रिय समन्वयात्मक अपरोक्षानुभूति को समस्त ज्ञान की तार्किक प्रागपेक्षा के रूप में स्वीकार करते हैं, अन्यथा अव्यवस्थित इन्द्रिय संवेदन व्यवस्थित एवं संश्लेषित नहीं हो सकते हैं। काण्टीय कॉपरनिकसीय क्रान्ति 'बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है' के द्वारा अभिव्यक्त होती है, जो कि ज्ञान–स्थिति में मानवीय विषयिता के महत्त्व की स्वीकृति है। हुस्सर्लीय विश्लेषण अनुभूति के क्षेत्र से सम्बद्ध है जिसके अन्तर्गत मानवीय विषयिता वस्तुनिष्ठता का आद्यस्थ सिद्धांत है। अनुभवातीत अहं अथवा विषयिता का स्वरूप मात्र तार्किक नहीं अपितु इसकी तात्त्विक सत्ता है। हम अनुभवातीत अहं की अनुभूति विशिष्ट एवं अनुपम सत्ता के रूप में करते हैं, जो कि केन्द्रबिन्दु है और जिससे समस्त अनुभव की विषयापेक्षी धारायें प्रसारित होती हैं।

फिनोमिनोलॉजी वस्तुतः मूलगामी एवं परम्पराविरोधी दार्शनिकीकरण की शैली है। हुस्सर्ल पारम्परिक लॉककृत प्रतिनिध्यात्मक ज्ञान–सिद्धान्त का खण्डन करते हैं, जिसमें ज्ञान की व्याख्या आन्तरिक मानसिक प्रत्यय के आधार पर की जाती है। हुस्सर्ल के अनुसार हमारे अनुभव की उपयुक्त व्याख्या के लिए कम से कम इतना अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि जगत् से हमारा साक्षात् व्यापार होता है। विषयी एवं विषय की पारम्परिक अवधारणा एक दार्शनिक संरचना है जो वस्तुतः जगत् के मानवीय अनुभव के यथार्थ स्वरूप को विकृत करता है। अतः हुस्सर्ल वस्तुनिष्ठता एवं चेतना में सम्बन्ध के संदर्भ में समग्रतावादी दृष्टिकोण को प्रस्तावित करते हैं। फिनोमिनोलॉजिकीय दृष्टि में हम विषयिनिष्ठ क्षेत्र को प्राकृतिक जगत् के क्षेत्र से उस तरह विखण्डित नहीं कर सकते जैसा कि वैज्ञानिक प्रकृतिवाद में प्राप्य है। विषयिता वस्तुनिष्ठता को संरचित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है। अतः विषयिता के लिए वस्तुनिष्ठता का फिनोमिनोलॉजिकीय प्रत्यय निःसंदेह समकालीन दर्शन में महत्त्वपूर्ण अवदान है। हुस्सर्ल काण्ट की प्रशंसा ज्ञान के क्षेत्रों में मानवीय विषयिता के महत्त्व को स्वीकार करने के लिए करते हैं, किन्तु वे उनकी आलोचना 'प्रकृतिवाद' 'संकाय मनोविज्ञान' एवं 'मिथकीय संरचनाओं के संदर्भ में चेतना को विश्लेषित किये जाने के कारण करते हैं। अतएव हुस्सर्ल काण्टीय स्वलक्षण (स्वयं में वस्तु) की तत्त्वमीमांसीय संरचना एवं वस्तुनिष्ठता (चेतना के लिए वस्तुनिष्ठता) का खण्डन करते हैं। प्रकृतिवाद के अनुसार यथार्थता अथवा सत् प्राकृतिक जगत् में अन्तर्निहित अथवा घटित होता है। हुस्सर्ल की यह मान्यता है कि समस्त ज्ञान, विज्ञान और बौद्धिकता चेतन क्रिया पर निर्भर करती है। इस क्रिया का उपयुक्त अवबोध प्राकृतिक दृष्टिकोण में संभव नहीं है। चेतना को प्राकृतिक पदावली में जगत् के अंग के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए, जहाँ जगत् प्रकृतिकरण की प्रवृत्ति का परिणाम हैं अर्थात् चेतना कारण एवं जगत् कार्य है–अपितु जगत् अर्थवान है और वह उद्घाटित अथवा अनावृत्त चेतना के द्वारा होता है।[16]

VIII

हुस्सर्ल काण्ट से इस बात से सहमति व्यक्त करते हैं कि संज्ञानात्मक क्रिया की वैधता क्रिया की अनिवार्यता में अन्तर्निहित होती है। यह अनिवार्यता मनौवैज्ञानिक बाध्यता नहीं जिसके अन्तर्गत विषयी किसी निश्चित प्रकार से वस्तुओं को देखने के लिए बाध्य हैं, अपितु यह तार्किक अनिवार्यता है जो

सारतत्त्व से निःसृत है। वे 'फार्मल एण्ड ट्रान्सीडेन्टल लॉजिक' के अन्तर्गत यह दिखाते हैं कि अतीन्द्रिय तर्कशास्त्र विषयापेक्षी संघटन के अनिवार्य नियमों को समाविष्ट करता है। यह संघटन चूँकि मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं है अतः वस्तुनिष्ठता पर आरोपित अनिवार्यता का स्वरूप तार्किक एवं तात्त्विक तो है लेकिन मनौवैज्ञानिक नहीं। देखा जाय तो हुस्सर्ल के दर्शन का प्रारंभ ही संज्ञान के सिद्धान्त के रूप में होता है और अन्ततः यह संज्ञान का ही सिद्धान्त है जिसमें निरपेक्ष ज्ञान का तादात्म्य निरपेक्ष सत् के साथ होता है। इस प्रकार का तादात्म्य हुस्सर्ल के विषयापेक्षी सिद्धान्त के कारण संभव होता है एवं इस सिद्धान्त की सुसंगति 'विषयापेक्षी संघटन' से स्थापित होती है। हुस्सर्ल काण्ट की इस दृढ़ धारणा के प्रति सहमति व्यक्त करते हैं कि समस्त अनिवार्यता का स्रोत तर्कबुद्धि है। काण्ट के अनुसार शुद्ध तर्कबुद्धि निरपेक्ष ज्ञान को प्राप्त कर सकती है, यदि वह स्वयं को संवृत्ति तक सीमित कर सके एवं पारमार्थिक सत्ता (ईश्वर, स्वतंत्रता एवं अमरत्व) को या तो व्यावहारिक बुद्धि के लिए छोड़ दे अथवा उसे यह स्वीकार करके संतुष्ट हो जाय कि वह चिन्त्य है किन्तु ज्ञेय नहीं। हुस्सर्ल भी यह स्वीकार करते हैं कि शुद्ध तर्कबुद्धि निरपेक्ष ज्ञान को प्राप्त कर सकती है, किन्तु उसे सीमित करने का कोई औचित्य नहीं है। यह उनका दृढ़ अभिमत है कि जो शुद्ध तर्क बुद्धि के क्षेत्र से बाहर है उसे 'सत्ता' से विभूषित नहीं किया जा सकता है अर्थात् किसी भी सत्ता के बारे में विचार भी संभव नहीं है जो ज्ञेय नहीं हो और जो बौद्धिक रूप से ज्ञेय नहीं उसकी सत्ता भी नहीं हो सकती। संपूर्ण सत्ता का बौद्धिकीकरण संभव है, क्योंकि सम्पूर्ण सत्ता को बुद्धि में विषयापेक्षी संघटन के रूप में घटित किया जा सकता है। काण्ट एवं हुस्सर्ल में ज्ञानमीमांसीय भेद को इसके अतिरिक्त इस प्रकार भी निरूपित किया जा सकता है कि काण्ट सभी संज्ञान में दो तत्त्वों अर्थात् विषय–सामग्री एवं आकार को स्वीकार करते हैं। सामग्री अनुभव अथवा इन्द्रिय संवेदन के द्वारा प्रदत्त है, तो वहीं आकारिक तत्त्व चेतना के व्यापार अथवा बुद्धि अथवा विषयिता का परिणाम है। हुस्सर्ल काण्ट से सहमति व्यक्त करते हैं कि केवल अनुभव ही निर्णय को सामग्री प्रदान करते हैं किन्तु साथ ही साथ वह अनुभव के क्षेत्र को विस्तार देते हुए चेतना के किसी भी संघटनात्मक व्यापार को समाहित करते हैं, जिसके फलस्वरूप विषय यथार्थ रूप में चेतना को 'प्रदत्त' होता है। वे अनुभवातीत तर्कशास्त्र को प्रस्तावित करते हैं, जिसका सम्बन्ध नियमों से है, जिसके द्वारा चेतना विचार को सामग्री प्रदान करती है।

इसे 'अनुभव के तर्कशास्त्र' से अभिहित किया जा सकता है, क्योंकि इसके नियम संघटनात्मक क्रिया को निर्देशित करते हैं और जिसके द्वारा विषय चेतना के समक्ष प्रस्तुत होते हैं। इस तर्कशास्त्र के कारण तर्कबुद्धि एवं अनुभव में काण्टीय समन्वय अन्ततः पूर्णता को प्राप्त होता है, क्योंकि तर्कबुद्धि स्वयं में एक प्रकार का अनुभव है एवं अनुभव स्वयं में बौद्धिकीकृत होता है।

इस तरह कहा जा सकता है कि काण्ट प्लेटो की पुनरर्वोज करते हैं एवं वे प्लेटों के बौद्धिक प्रत्यय को विषयिता की पदावली में अभिव्यक्त करते हैं। इसी तारतम्य में समान औचित्य के आधार पर यह भी कहा जा सकता हैं कि हुस्सर्ल ने प्लेटो एवं काण्ट दोनों की ही पुनरर्वोज की है क्योंकि वे दोनों के दृष्टिकोणों को संघटनात्मक विषयापेक्षिता में समाहित करते हुए अभिव्यक्त करने की चेष्टा करते हैं। 'प्लेटो सारतत्त्व को अनिवार्य एवं अपरिवर्तनीय के रूप में कल्पित करते हैं, काण्ट अनिवार्यता एवं अपरिवर्तनीयता को आकारिक प्रागनुभविक विषयिता की पदावली में परिभाषित करने का प्रयास करते हैं। हुस्सर्ल इसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आकारिक एवं पदार्थगत् प्रागनुभविक का आश्रय लेते हैं। प्लेटो यह स्वीकार करते हैं कि यदि अनिवार्यता है तो उसका सम्बन्ध आदर्श अथवा बौद्धिक क्रम से है। काण्ट की दृष्टि में आदर्श अवस्था अथवा क्रम विषयिता से सम्बन्धित है। हुस्सर्ल अनिवार्यता का विस्तार आकार से सामग्री तक करते हैं और वे ज्ञान की समग्र अन्तर्वस्तु (सामग्री एवं आकार) को प्रागनुभविककृत करते हैं।[17] यद्यपि हुस्सर्ल पहले दार्शनिक नहीं हैं, जो सत्ता एवं बोध में तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करते हैं, किन्तु निःसंदेह ये दोनों को ही संघटनात्मक विषयापेक्षिता पर निर्भर करने का एक रचनात्मक एवं सुविचारित प्रयास अवश्य करते हैं। चूँकि चेतना में केवल ज्ञान ही संघटित नहीं होता, अतः विषयापेक्षी संघटन 'सत् के स्पष्टीकरण' अथवा सार्वभौम व्याख्या का आधार है। हुस्सर्ल निष्कर्षरूपेण यह स्वीकार करते हैं कि 'अनुभवातीत फिनोभिनोलॉजी के द्वारा स्पष्टीकृत जगत् ही निश्चित रूप से मनुष्य का धारणात्मक अथवा बोधित जगत् हैं।'[18]

IX

हुस्सर्ल की यह स्थापना है कि फिनोमिनोलॉजिकीय पुनःकल्पन के अभाव में काण्ट का दर्शन वैज्ञानिक ज्ञान की शर्तों में ही सीमित अथवा अवरूद्ध होकर रह जाता है। हुस्सर्ल काण्ट के अनुभवातीत दर्शन के यथार्थ एवं मूलगामी अनुभवातीत दर्शन न होने के लिए दो कारणों को उत्तरदायी

बताते हैं – 1. जीवन–लोक का वैज्ञानिक जगत् के साथ अनौचित्यपूर्ण तादात्म्य 2. यथार्थ मनोविज्ञान का अभाव जिसके माध्यम से ही अनुभवातीत विषयिता का अवबोध संभव है। वस्तुतः यही दो विशेषतायें काण्टीय कॉपरनिकसीय क्रान्ति की निष्फलता एवं अनुभवातीत दर्शन की असफलता की उपयुक्त व्याख्या है। हुस्सर्लीय फिनोमिनोलॉजी में अनुभवातीत चेतना वस्तुनिष्ठ अनुभव के संभवन की व्याख्या में प्रयुक्त तार्किक सिद्धान्त नहीं जो प्रतिगामी दार्शनिक चिन्तन से प्राप्त होता है। इस अनुभवातीत चेतना को अनुभूति के क्षेत्र में अपचयनों की श्रृंखला के द्वारा उद्घाटित होना चाहिए। अनुभवातीत विषयिता का अभिनव प्रत्यय विमर्शात्मक चेतना एवं प्राग–विमर्शात्मक जीवन की दूरी को समाप्त करता है। यह वैधता का अ–कालिक सिद्धान्त नहीं है, अपितु जीवन्त अनुभूति का क्षेत्र है।[19] अतः काण्टीय तार्किक अनुभवातीत विषयिता का हुस्सर्लीय फिनोमिनोलॉजी में अनुभूति के क्षेत्र में रूपान्तरण ही हुस्सर्ल के दर्शन को 'द्वितीय कॉपरनिकसीय क्रान्ति' के रूप में व्याख्यायित करने के लिए पर्याप्त आधार और औचित्य प्रदान करता है।

वास्तव में काण्टीय दर्शन का विस्तार एवं परिष्कार संभव ही नहीं होता यदि हुस्सर्ल चेतना के नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करते। हुस्सर्लीय अनुभवातीत दृष्टिकोण से केवल यह अपेक्षित नहीं है कि वह समस्त गोप्य पूर्वधारणाओं (जगत् एवं उसके स्वीकृत अर्थ) का प्रकटन करे अपितु 'शुद्ध चेतना' के जीवन में अर्थ किस प्रकार संघटित होते हैं, इसको भी प्रस्तुत करे। काण्ट की ज्ञानमीमांसा इस सार्थक उद्देश्य की पूर्ति में समस्याग्रस्त है, क्योंकि इसमें इन्द्रिय प्रदत्त एवं संप्रत्ययकृत में कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं है। अतः काण्टीय ज्ञानमीमांसा एक अस्थायी केन्द्र के समान है जो या तो आकार व अन्तर्वस्तु में तादात्म्य (हीगेल) अथवा पारम्परिक सान्निध्य (प्रत्यक्षवाद) में घटित होता है।[20] हुस्सर्ल इस समस्या के समाधान हेतु सारतत्त्वीय आकार को पदार्थगत सामग्री के सार के रूप में प्रस्तुत करते हैं। अंतःप्रज्ञात्मक आकार सत् अथवा यथार्थ का सार है और इस दावे की पुष्टि का आधार यह है कि संवृत्ति स्वयं में वस्तुयें हैं। इसके लिए आवश्यकता है कि बौद्धिक (सार तत्त्वीय) अंतःप्रज्ञा की, जिसका जिस तीव्रता से काण्ट खण्डन करते हैं, हुस्सर्ल उसी प्रखरता से उसे स्वीकार करते हैं। अतः समस्या का समाधान हुस्सर्लीय सारतत्त्वीय विधि के द्वारा ही संभव है। अतः काण्ट

के लिए जो असंभव है क्योंकि उनकी दार्शनिक योजना में बौद्धिक अंतःप्रज्ञा की असंभावना है, तो वहीं हुस्सर्ल के दर्शन में सारतत्त्वीय अंतः प्रज्ञा का प्रत्यय इसे सहज एवं सुलभ बनाता है। इसतरह कहा जा सकता है कि हुस्सर्ल की फिनोमिनोलॉजी को द्वितीय कॉपरनिकसीय क्रान्ति के रूप में व्याख्यायित करने का मूल उद्देश्य और निहितार्थ मात्र काण्टीय अनुभवातीत दर्शन एवं हुस्सर्लीय फिनोमिनोलॉजी के साम्य एवं वैषम्य को रेखांकित करना नहीं है, अपितु यह प्रदर्शित करना है कि कैसे हुस्सर्लीय दर्शन काण्ट के दर्शन में अन्तर्गर्भित अवधारणत्मक योजनाओं की रचनात्मक और मानवोचित परिणति है।

दर्शनविभाग,
यूइंग क्रिश्चियन कॉलेज,
इलाहाबाद (उ.प्र.)

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. *मैक्कन क्रिस्टोफर, प्रेजेन्स एन्ड कोइन्सिडेन्स : दी ट्रांसफोरमेशन ऑफ ट्रान्सेनडेंटल इनटु ओन्टोलॉलिकल फिनोमिनोलॉजी (डोरड्रेच्टः क्लुवर ऐकडिमक पब्लिशर्स), पृ. 7–8.*
2. *कृष्ण, दया, दी नेचर ऑफ फिलोसाफी (कोलकत्ता : प्राची प्रकाशन, 1955) पृ. 148.*
3. *हुस्सर्ल एडमण्ड, आइडियास परटेनिंग टू प्योर फिनोमिनोलॉजी एण्ड टू फिनोमिनोलॉजिकल फिलोसाफी (अनुवादक) एफ कर्सटन (दी हेगः मार्टिनस निजहोफ, 1982) पृ. 19*
4. *लावर, क्वेनटीन, एडमण्ड हुस्सर्ल फिनोमिनोलॉजी एण्ड दी क्राइसिस ऑफ फिलोसाफी (न्यूयार्कः हार्पर टार्च बुक्स), पृ. 32.*
5. *एलिस्टन, फ्रेडरिक ए. एवं पी. मक्कोरमिक (संपादक) हुस्सर्लः एक्सपोजिशन्स एण्ड एप्रेजल्स (नोर्टे डामः युनिवर्सिटी ऑफ नोर्टे डामे प्रेस, 1977), पृ. 270–01*
6. *फार्बर, मारविन, फिलोसाफिकल एसेस इन मेमोरी ऑफ एडमण्ड हुस्सर्ल (कैम्ब्रिजः हारवर्ड युनिवर्सटी प्रेस, 1640), पृ. 27.*
7. *हुस्सर्ल, एडमण्ड, आइडिया I 49, एनालेक्टा हुस्सर्लियाना III/I (डोरड्रेच्टःरिडेल पब्लिशिंग कंपनी, 1974), पृ. 104.*
8. *कृष्ण, दया एवं शर्मा, के. एल. (संपादक), दी फिलॉसाफी ऑफ जे. एन. मोहन्ती, (नई दिल्लीः इन्डियन काउन्सिल ऑफ फिलोसाफिकल रिसर्च, 1991), पृ. 91.*
9. *हुस्सर्ल, एडमण्ड, दी पेरिस लेक्चर्स (अनुवादक) पीटर कोयस्टेनबॉस (दी हेगः मार्टिनस निजहोफ, 1964), पृ. L-LI.*

10. हुस्सर्ल, एडमण्ड, दी क्राइसिस ऑफ यूरोपियन साइन्स एण्ड ट्रान्सेनडेंटल फिनोमिनोलॉजी (अनुवादक) डेविड कार (.इवानस्टनः नार्थ वेस्टर्न युनिवर्सटी प्रेस, 1970) पृ. 145

11. गुरविश्च, अरान, फिनोमिनोलॉजी एण्ड दी थ्योरी आफ साइन्स, पृ. 25.

12. राजन, आर सुन्दर, दी ह्यूमनाइजेशन ऑफ ट्रान्सेनडेंटल फिलोसाफी (नई दिल्ली, प्रगति पब्लिकेशन), पृ 14–16.

13. हुस्सर्ल, एडमण्ड, दी क्राइसिस ऑफ यूरोपियन साइन्स एण्ड ट्रान्सेनडेंटल फिनोमिनोलॉजी (अनुवादक) डेविड कार (इवानस्टनः नार्थ वेस्टर्न युनिवर्सिटी प्रेस, 1970), पृ. 139.

14. मोहन्ती, जे. एन, हुस्सर्लस ट्रान्सेनडेंटल फिनोमिनोलॉजी एण्ड एसेनशियलइज्म, रिव्यू ऑफ मेटाफिजिक्स, खण्ड XXXII नम्बर 2, 1978, पृ. 310.

15. मोहन्ती, जे. एन. एडमण्ड हुस्सर्लस थ्योरी ऑफ मीनिंग (दी हेगः मार्टिनस निजहाफ, 1969), पृ. 74–5.

16. मोरान, डर्मोट, इन्ट्रोडक्शन टू फिनोमिनोलॉजी (लंदनः राउटलेज पब्लिकेशन, 2000), पृ. 144

17. लावर, क्वेनटीन, फिनोमिनोलॉजीः इट्ज जेनेसिस एण्ड प्रास्पेक्टस (न्यू याकिः हार्पर टार्च बुक, 1965), पृ. 79.

18. हुस्सर्ल, एडमण्ड, फार्मल एण्ड ट्रान्सेनडेंटल लॉजिक (अनुवादक) डोरियान केयर्न्स (दी हेगः मार्टिनस निजहाफ, 1970), पृ.14.

19. मोहन्ती, जे. एन. दी पॉसिबलिटी ऑफ ट्रान्सेनडेंटल फिलोसाफी (दी हेगः मार्टिनस निजहाफ, 1985) पृ. 162–4.

20. मैक्ब्राइड, विलियम एल. एव शराग, ओ. काल्विन (संपादक), फिनोमिनोलॉजी इन ए प्लूरलिस्टिक कन्टेकस्ट (न्यू न्यूयार्कः युनिवर्सटी ऑफ न्यूयार्क प्रेस), पृ. 128

भारतीय धर्म दृष्टि : आस्थाप्रणाली अथवा औचित्य प्रणाली

दीपकुमार त्रिवेदी

भारतवर्ष सदा से एक धर्मप्राण राष्ट्र रहा है। परम्परागत मान्यता के अनुसार शासक और शासित दोनों पर धर्म का नियन्त्रण होना चाहिए तथा शासक को धर्मानुसार ही राज्यव्यवस्था का संचालन करना चाहिए। प्राक्तनकाल की यह मान्यता क्या आज भी व्यवहार्य एवं समादरणीय हो सकती है, इस पर कुछ विचार किया जाना सामयिक दृष्टि से नितान्त अपेक्षित है। स्वातन्त्र्योत्तर भारतवर्ष ने तो स्वयं को एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में उपस्थित किया है और समकालीन वैश्विक राजनीतिक परिदृश्य में 'धर्म निरपेक्षता' एक आदर्श मूल्य के रूप में आदृत हो चुकी है। भारत जैसे बहुधर्मी राष्ट्र एवं नाना मत, मजहब, पंथ व सम्प्रदाय संकुल समाज में तो धर्मनिरपेक्षता आवश्यक ही नहीं अपितु अपरिहार्य है। इसीलिए 'भारतीय संविधान' की उद्देशिका में भारत को राजनीतिक रूप से एक *Secular* अर्थात् धर्मनिरपेक्ष राज्य माना गया है।[1] अब यदि यह जिज्ञासा हो कि 'धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र' से क्या तात्पर्य है तो इसे सरल शब्दों में इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है कि "धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र वह राष्ट्र है जो व्यक्ति तथा समुदाय को धर्म की स्वतन्त्रता का आश्वासन देता है, जो व्यक्ति के धर्म पर विचार किए बिना नागरिक के रूप में उसके साथ व्यवहार करता है, जो संवैधानिक दृष्टि से किसी विशेष धर्म के साथ सम्बद्ध नहीं होता, जो धर्म को न तो प्रोत्साहन देता है और न उसमें हस्तक्षेप करता है।"[2]

'धर्मनिरपेक्ष' शब्द का यह आपाततः प्रतीयमान सुगम अर्थावबोध दार्शनिक विवेचन के उपक्रम में कतिपय गहन समस्यायों का उद्भावन करता है। धर्मनिरपेक्षता के सम्यक् परिज्ञानार्थ 'धर्म' के सम्प्रत्यय का परिशीलन एतद्विषयक एक प्रागपेक्षा है। सर्वप्रथम 'धर्म' शब्द के प्रयोग पर विशेष आपत्ति की जाती है। कहा जाता है कि 'धर्म' शब्द तो उदात्त मानवीय मूल्यों के आचरण का निर्वाहक होने से कर्त्तव्यावबोधनार्थ प्रयुक्त

होता है, अस्तु इसको सम्प्रदाय, पंथ, मत, मजहब से समीकृत करने का प्रयास न तो न्याय्य है और न ही औचित्यपूर्ण। धर्म शब्द संस्कृत की "धृ" धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ होता है "धारण करना"। एक व्युत्पत्ति के अनुसार जो संसार को धारण करे वह धर्म है (धरति धारयति वा लोकम् इति धर्मः)। एक अन्य व्युत्पत्ति के अनुसार जो धारण किया जाय उसे धर्म कहते हैं (ध्रियते यः स धर्मः)।[3] इस प्रकार धर्म व्यापक सामाजिक नैतिक नियमों, मूल्यों एवं आदर्शों का निरूपक माना जाता है और इसके उपोद्वलक रूप में मनूक्त धर्म के दस लक्षणों [4] एवं अन्य शास्त्रीय प्रमाणों को उद्धृत किया जाता है।[5] निश्चय ही वह धर्म एवं संस्कृति महान रही होगी जिसने इन उदात्त नैतिक मूल्यों को आविष्कृत किया होगा। किन्तु अब विचारणीय यह है कि क्या धर्म की इयत्ता नैतिक मूल्यों तक ही है? सामान्यतः धर्म में नैतिकता के साथ–साथ आस्थामूलक तत्त्व भी समाविष्ट होते हैं। वह धर्म जो संस्कृत भाषा में उपनिबद्ध धर्म–ग्रन्थों को स्वीकार्य मानता है क्या आस्थामूलक तत्त्वों से निःशेष है अथवा उसने 'आस्था प्रणाली' एवं 'औचित्य प्रणाली' में असांकर्य को व्यवस्थापन्न किया हुआ है? कतिपय साम्प्रतिक विपश्चिद्वर्य साभिनिवेश यह प्रतिपादित करने हेतु कृतसंकल्प हैं कि इस धर्म में 'आस्था प्रणाली' एवं 'औचित्य प्रणाली' में असांकर्य है।

उपर्युक्त विषय पर निष्पक्षतापूर्वक विचार करने पर 'आस्था प्रणाली' एवं 'औचित्य प्रणाली को परस्पर व्यावर्तक मानना दुःसाध्य प्रतीत होता है। 'मनु' इस धर्म के परम प्रामाणिक शास्त्रकारों में से एक हैं। 'कुमारिल' और 'शंकर' जैसे इस धर्म के महान उन्नायकों ने मनु के आप्तत्व को सर्वतोभावेन स्वीकार किया है।[6] मनु के अन्तःसाक्ष्य से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि यहाँ आस्था संवलित नैतिक मूल्यों को ही स्वीकार्य माना गया है। मनु का स्पष्ट कथन है कि "श्रुत्युक्त व स्मार्त आचरण ही परम धर्म है"।[7] अवधेय है कि केवल आचार (सदाचार) ही धर्म नहीं है प्रत्युत श्रुति, स्मृति अनुमोदित आचार ही परम् धर्म है। धर्म निर्णयार्थ श्रुति ही सर्वश्रेष्ठ साधन है।[8] अनायास यह पृच्छा की जा सकती है कि आचार द्वारा श्रुति, स्मृति का अनुवर्तन दूषण न मानकर भूषण क्यों न माना जाय? इसके उत्तर में यह ज्ञातव्य है, कि ऐसा मान लेने पर हमें ऐसे समस्त कर्मों को नैतिक (=धर्म) मानना पड़ेगा जो तत्त्वतः नैतिक न होते हुए भी श्रुति या स्मृति से अनुगृहीत होंगे। उदाहरणार्थ यज्ञों में पशु–हिंसा को लिया जा सकता है। मनु के अनुसार "स्वयम्भू (ईश्वर)

ने पशुओं की रचना यज्ञों तथा यज्ञों की समृद्धि के लिए ही की है, अतः यज्ञ में पशु–हिंसा अहिंसा ही है'' ।[9] सपशु याग पुण्यप्रद है क्योंकि इससे ''उत्सर्ग किए जाने वाले पशु को श्रेष्ठ योनि एवं याग कर्ता को उत्तम गति प्राप्त होती है'' ।[10] मनु के अनुसार सामान्य स्थिति में पशुमांसभोजी पापाचारी है।[11] ''किन्तु श्रौत–स्मार्त कर्मों में नियुक्त होने पर उसके द्वारा मांसभक्षण किया जाना अनिवार्य है अन्यथा वह इक्कीस जन्मों तक पशुयोनि को प्राप्त होता रहता है'' ।[12] ''चराचर जगत् में नियत वेदविहित हिंसा को अहिंसा ही माने, क्योंकि वेद से ही धर्म का प्राकट्य है'' ।[13] स्पष्ट है कि 'अहिंसा' का अपना कोई स्वप्रतिष्ठित मूल्य नहीं है। हिंसा यदि निगमानुमोदित हो तो सर्वथा करणीय एवं उपादेय है। इसी कारण से मनुस्मृति के प्रख्यात टीकाकार 'मेधातिथि' ने 'पांचरात्रों' एवं 'पाशुपतों' को वेदवाह्य माना है। ''उदाहरण के तौर पर वे संकेत करते हैं कि भागवतों के मतानुसार सब प्रकार की जीव–हिंसा अधार्मिक है, और यह मत यज्ञ–विशेष में पशुओं की बलि संबंधी वैदिक आदेश के स्पष्टतः विपरीत है। प्राणियों की हिंसा स्वतः अधार्मिक नहीं है, केवल वही हिंसा अधार्मिक है जिसका वैदिक आदेशों द्वारा निषेध किया गया है। अतः उन सभी धर्म–तन्त्रों के आचार एवं कृत्य, जो वेदों के उपदेशों पर आधारित नहीं हैं, 'धर्म' के अनुकूल न होने के कारण त्याज्य हैं'' ।[14]

अब विचारणीय है कि यदि हिंसा स्वतः पापप्रद न होकर केवल निगमानुपदिष्ट होने की स्थिति में ही पापप्रद है तब तो यदि, कथंचित् 'निगम' में मानव–बध की अनुज्ञा मान ली जाय तो वह भी धर्म रूप से व्यवहार्य होगा, और आपको जानकर आश्चर्य होगा कि शास्त्रकारों ने इस नृशंस प्रथा का भी अनुमोदन किया है। षड्विंश ब्राह्मण में 'श्येन याग' का विधान है जो शत्रु – हत्या के लिए किया जाने वाला एक प्रकार का 'अभिचार कर्म' है।[15] शबर स्वामी ने हिंसात्मक होने के कारण इस कृत्य का अनुमोदन नहीं किया है।[16] किन्तु वेदविहित होने के कारण 'भट्ट कुमारिल' ने इसकी धर्मवत्ता का सविस्तार प्रतिपादन किया है।[17] इसी व्याख्याक्रम में 'भट्ट उम्बेक' ने कहा है कि ''श्येनादि यागों का न साक्षात्, न उपचार से और ना ही उसके फल का अनर्थत्व है, इसलिए उनके अनर्थत्व का प्रतिपादन करने वाला 'श्येनोवज्रइषुः' इत्यादि भाष्य उपेक्षणीय है।[18] यही नहीं उनका यहाँ तक कहना है कि जो गुरू उत्पथगामी (कुपथगामी) और कार्याकार्य को जानने में अक्षम हो उसका परित्याग कर देना चाहिए।[19] स्पष्ट है कि यहाँ शबरस्वामी को उत्पथगामी

माना गया क्योंकि उन्होंने नैतिकता को प्रश्रय दिया जबकि परवर्ती व्याख्याकारों ने वेदोपदिष्ट होने मात्र से अन्धश्रद्धा का पोषण व पल्लवन किया। यही नहीं वेदों में तो पुरुषमेध का भी विवरण प्राप्त होता है और परवर्ती धर्मशास्त्रकारों द्वारा यह अनुमोदित भी रहा है।[20] इसके अतिरिक्त अश्वमेध यज्ञ में यजमान–महिषी का अश्व–शिश्न से संयोग एवं यजमान की उपपत्नियों से ऋत्विजों के अश्लील भाषण आदि के अत्यन्त घृणित व जुगुप्सित प्रसंगों का वर्णन उपलब्ध होता है जो श्रुतिस्वीकार्य होने पर भी कथमपि व्यवहर्तव्य नहीं माना जा सकता है।[21]

पूर्वोक्त उदाहरणों को दर्शाने का प्रयोजन मात्र यह है कि इस विषय का सम्यक् दिग्दर्शन हो सके कि किस प्रकार हमारी 'औचित्य प्रणाली' 'आस्था प्रणाली' से निगमित और नियन्त्रित होती आयी है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि 'धर्म' शब्द मात्र औचित्य विचार के लिए ही नहीं प्रत्युत आस्थामूलक विचारों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः धर्म के दो मुख्य विभाग माने गए हैं– 'साधारण धर्म' तथा 'असाधारण धर्म'। ''धर्मशास्त्रों में 'साधरण धर्म' का उल्लेख है। इसका अक्षरशः सामान्य या मामूली यह अर्थ होता है। सम्भवतया साधारण धर्म को सार्वजनीन कहना उचित होगा, क्योंकि इसमें हिन्दू धर्म में संवर्धित हुए आधारभूत मूल्यों का समावेश किया गया है जिनमें निहित निर्देशों का पालन सभी को करना होता है, चाहे वे किसी भी वर्ण, आश्रम, पद तथा स्तर के हों।''[22] स्पष्ट है कि 'साधारण धर्म' एक प्रकार से सार्वभौम नैतिक नियमों का प्रवर्तक है और मानवमात्र के लिए कल्याणकारी कर्तव्यों का विधान करता है। इसके विपरीत 'असाधारण धर्म' व्यक्ति विशेष की विशेष स्थिति यथा–वर्ण, आश्रम, पद या स्तर आदि के आधार पर विनियुक्त होते हैं। ये 'असाधारण धर्म' मुख्यतः आस्थाओं, परम्पराओं, प्रथाओं व रूढ़ियों से व्युत्पन्न होते हैं। ऐसे में धर्म शब्द का प्रयोग मात्र नैतिक नियमों के लिए स्वीकार करना न्याय्य प्रतीत नहीं होता है। स्यात् यह कहा जाय कि 'असाधारण धर्म' को 'साधारण धर्म' से निगमित व नियन्त्रित स्वीकार कर लिया जाय तो समस्या सुलझ जाती है किन्तु जैसा कि हम पूर्व प्रकरण में देख चुके हैं कि स्थिति इसके ठीक विपरीत है। प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् डॉ0 सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने उचित ही लिखा है कि'' साधारणधर्म को वर्णधर्म की आधार–शिला मानने का अर्थ यह है कि यदि साधारणधर्म एवं वर्णधर्म में विरोध हो तो साधारणधर्म मान्य होना चाहिए।

यह अर्थ उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जहाँ पर दोनों धर्मों की विरोधावस्था में साधारणधर्म अधिक शक्तिशाली माना गया हो। जैसा कि अहिंसा को साधारणधर्म माना गया है परन्तु यज्ञयागादि में पशुबलि निहित है और ब्राह्मणों के लिए यज्ञ करना अनिवार्य था। युद्ध में मनुष्य की अत्यधिक हिंसा होती थी परन्तु क्षात्र धर्म युद्ध से अपलायन था और उसके अनुसार युद्ध करना उसके लिए अनिवार्य था। रामायण महाकाव्य में शम्बूक नामक एक शूद्र मुनि का वर्णन है। वह जंगल में घोर तप कर रहा था, जो वर्ण धर्म का उल्लंघन था क्योंकि शूद्र के लिए तप वर्जित है तथा जो उच्चवर्ण के लिए स्वीकृत है। अतः शूद्र मुनि शम्बूककृत तप को अधर्म समझा गया जिसके परिणामस्वरूप ब्राह्मण के छोटे शिशु की मृत्यु के रूप में राम के राज्य में विपत्ति आयी थी। राजा राम ने अपने रथ में जाकर वर्णधर्म का पालन नहीं करने के कारण शम्बूक के सिर को काट दिया। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जिससे पता चलता है कि साधारणधर्म एवं वर्णधर्म के बीच संघर्ष के अवसर पर वर्णधर्म अधिक शक्तिशाली समझा गया है।[23]

साधारणधर्म यदि नैतिकता का अवच्छेदक है तो इस आधार पर समस्त धर्मों को नैतिकता का अपर पर्याय स्वीकार कर लेना अविचारित सामान्यीकरण के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? पाश्चात्य तर्कशास्त्र की पदावली के अनुसार धर्म को नैतिकता उसके एक विशेष अर्थ 'साधारण धर्म' को लक्षित करते हुए कहा जाता है किन्तु इस विशेष अर्थ का प्रयोग धर्ममात्र के लिए कर देने से उपाधि दोष (Fallacy of accident) आपन्न हो उठता है। इसके लिए निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है –

धर्म नैतिकता है।
क्रत्वन्तर्वतिनी हिंसा धर्म है।
अतः क्रत्वन्तर्वतिनी हिंसा नैतिकता है।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि जिस धर्म ने साधारण धर्म के रूप में इतने उदात्त विचारों को सैद्धन्तिक रूप से ही सही, स्वीकार किया हुआ हो वह क्या इतने मात्र से ही स्व–महत्त्व ख्यापनार्थ समर्थ हो सकता है?

वस्तुतः यदि हम 'धर्म रूपी शरीर' के आदर्श स्वरूप की कल्पना करें तो उसमें 'साधारण (सार्वभौम) धर्म' 'कारण शरीर' स्थानीय होना चाहिए, 'असाधारण या विशेष धर्म' को 'सूक्ष्म शरीर' स्थानीय होना चाहिए तथा कर्मकाण्डों को 'स्थूलशरीरवत्' होना चाहिए। किन्तु वस्तुस्थिति एतत्प्रकारक

नहीं है। वास्तविकता में तो असाधारण (आस्था प्रधान) धर्म कारण शरीर स्थानीय, साधारण धर्म सूक्ष्म शरीर स्थानीय व कर्मकाण्डों का स्थूल स्वरूप स्थूल शरीर स्थानीय हैं।

यदि सुजनतोष न्याय से यह स्वीकार कर ही लिया जाय कि नैतिकता के अतिरिक्त धर्म का अन्य कुछ भी प्रवृत्ति निमित्त नहीं है तो भी संविधान, कानून या सामान्य वाग्व्यवहार में सम्प्रदाय, पंथ, मत, मजहब के समानार्थक रूप में 'धर्म' पद के प्रयोग में कोई अनौचित्य नहीं है। किसी भी शास्त्र के अर्थ का निश्चय करने हेतु मीमांसकों द्वारा कुछ नियम निर्धारित किए गए हैं। इस विषय में मीमांसा का सीधा नियम यह है कि यदि किसी शब्द का साधारण या लोक प्रचलित अर्थ वाक्य का उचित अर्थ देता है तो धातु प्रत्यय आदि के आधार पर उसका अन्यथा अर्थ करना ठीक नहीं है। महामीमांसक शबरस्वामी मीमांसा भाष्य का प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि "लोक में जो पद जिन अर्थों में प्रसिद्ध हैं उनको सम्भव (= लौकिकार्थ उपपन्न) होने पर सूत्रों में उन्ही अर्थों वाला जानना चाहिए, अध्याहार के द्वारा इनका अर्थ कल्पित नहीं करना चाहिए, और नाही परिभाषिक (= शास्त्रविशेष में स्वीकृत विशेष) अर्थ का कथन करना चाहिए।"[24] मीमांसा शास्त्र का निहितार्थ यह है कि यतः शंसन और शासन ही शास्त्र के मुख्य उद्देश्य हैं। अतः इन लक्ष्यों की पूर्ति तभी हो सकती है जबकि शास्त्र में लोक प्रसिद्ध अर्थों का आयोजन हो। यही नहीं मीमांसा शास्त्र की मान्यता तो यह है कि वैदिक और लौकिक पदों के अर्थ समान ही हैं।[25] कहने का तात्पर्य यह है कि यदि शास्त्र में अप्रसिद्धार्थ पदों का प्रयोग स्वीकार किया जाये तो लोक के लिए शास्त्र का अर्थावगम ही सुकर न हो पायेगा। यदि हम 'धर्म' शब्द के विभिन्न अर्थों पर विचार करें तो स्थिति स्पष्ट हो जाती है। बौद्ध धर्म व दर्शन में 'धर्म' का अर्थ है– "अत्यन्त सूक्ष्म, प्रकृति तथा मन के अन्तिम तत्त्व जिनका पुनः पृथक्करण नहीं किया जा सकता।" 'धर्म' आज के साइंस की भाषा में वस्तु की जगह प्रयुक्त होनेवाला 'घटना' शब्द का पर्यायवाची है। 'ये धर्मा हेतु–प्रभवाः' (=जो धर्म है वह हेतु से उत्पन्न है)–यहाँ भी धर्म विच्छिन्न–प्रवाहवाले विश्व के कण–तरंग अवयव को बतलाता है"।[26]

जैन धर्म व दर्शन के अनुसार गति में सहायक तत्त्व को ही 'धर्म' कहते हैं। अन्य शास्त्रों में गुण के समुच्चयार्थक रूप में प्रयुक्त 'गुण–धर्म' में 'धर्म' शब्द का अन्य ही अर्थ है। इस प्रकार पारिभाषिक रूप में प्रयुक्त धर्म

के विशेष–विशेष अर्थ की प्रवृत्ति तत् तत् शास्त्र पर्यन्त ही होती है, इतर नहीं। यतः संविधान, कानून या सामान्य वाग्व्यहार' में अन्य शास्त्रों में प्रवृत्त 'धर्म' शब्द के पारिभाषिक अर्थ से प्रयोजन नहीं है अतः यहाँ 'धर्म' का लोक प्रसिद्ध अर्थ ही ग्रहण किया जाता है। 'नास्तिक' शब्द का लोक प्रचलित अर्थ ईश्वर में विश्वास न करने वाले से है किन्तु भारतीय दर्शन के पारिभाषिक अर्थ के अनुसार इसका अर्थ वेदों में विश्वास न करने वाले से है। यतः हम लोक में नास्तिक का लोक प्रसिद्ध अर्थ ही व्यवहार्य मानते हैं न कि पारिभाषिक, अतः इसी प्रकार 'धर्म' शब्द का अर्थविनिश्चय भी लोक प्रयोग के आधार पर उपपन्न होना युक्ततर है। इस अर्थ में हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, या ईसाई धर्म के रूप में प्रयुक्त 'धर्म' शब्द का अर्थ ही इसका प्रवृत्ति निमित्त मानना उपयुक्त प्रतीत होता है।

यहाँ पर एक दुर्निवार प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि यतः 'धर्म' शब्द संस्कृतभाषान्तर्गत है, अतः प्रकृति प्रत्यय के अनुसार इसके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की स्वीकृति और प्रयोग ही सुकर एवं मूलार्थ को सुरक्षित रखने के कारण न्याय्य होगा। ऐसी स्थिति में जैसा कि पूर्व प्रदर्शित किया जा चुका है 'धर्म' शब्द का अर्थ व्यापक सामाजिक–नैतिक नियमों के अतिरिक्त अन्य कुछ हो सकना सम्भव नहीं है। तब तो 'धर्म' को 'सम्प्रदाय', 'पंथ', 'मत' या 'मजहब' के समतुल्य समझना यौक्तिक नहीं कहा जा सकता। आपाततः मनोहारी प्रतीत होने वाली यह युक्ति विचार करने पर अविचारित रमणीय ही ठहरती है। यह ठीक है कि किसी यौगिक शब्द के अर्थाभिधान के लिए इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ उपादेय होता है किन्तु इतना मात्र ही शब्दार्थ की इयत्ता को निर्धारित नहीं कर सकता। कालान्तर में पूर्व प्रचलित शब्द के अर्थ में संकोच–विकास या उत्कर्षापकर्ष होता रहता है। इसी कारण संस्कृत साहित्य में शब्दों का यौगिक, यौगिकरूढ, योगरूढ व रूढ इस प्रकार का चतुर्धा विभाजन किया जाता है। एक पद का अर्थ कालान्तर में परिवर्तित होता रहता है। 'साहस' शब्द आजकल उत्कृष्ट अर्थ अर्थात् 'सत्साहस' के रूप में प्रयुक्त होता है किन्तु प्राचीन परम्परा में 'साहस' से वही अर्थ लिया जाता था जिसका तात्पर्य आज 'दुःसाहस' से है। इसी अर्थ में जैनाचार्य हेमचन्द्र ने बौद्धों के क्षणभंगवाद की आलोचना करते हुए उन्हें महासाहसिक कहा है।[27] इसी प्रकार कौटिल्य ने गम्भीर अपराधों के लिए बहुत्र 'उत्तम साहस दण्ड' का विधान किया है।[28] इस प्रकार 'साहस' शब्द

का अर्थ अद्यावधि अपकर्ष के स्थान पर उत्कर्ष का द्योतक हो गया है। सम्राट अशोक ने अपने शिलालेखों में स्वयं के प्रति 'देवानाम प्रिय' का प्रयोग किया है। वैदिकों ने बौद्ध धर्म एवं अशोक के प्रति वितृष्णा के कारण इसका प्रयोग मूर्खता सूचक रूप में करना प्रारम्भ किया।[29] शब्दों के अर्थान्तरण का अनेक प्रकार से ऊहापोह किया जा सकता है किन्तु अतिप्रसंग होने के कारण अनपेक्षित है। अपेक्षित तो केवल यह दर्शाना है कि 'धर्म' शब्द का अर्थ जो कभी औचित्य प्रणाली को भी समाहित किए हुए था आज मात्र 'आस्था प्रणाली' के रूप में रूढ़ हो गया है। किन्तु यह भाषागत पदों के अर्थों की स्वाभाविक गति है और भाषा, संस्कृति एवं लोकव्यवहार की प्रवहमानता के लिए आवश्यक एवं उपादेय है। वस्तुतः बहुत सा लोक व्यवहार यौगिक शब्दों के यदृच्छा प्रयोग से उपपन्न होता है और उसके इस प्रयोग के स्थान पर मूलार्थ की अभीप्सा उपहासास्पद परिस्थितियों को जन्म दे सकती है। 'वासुदेव' और 'याज्ञवल्क्य' दोनों पद अपत्यार्थक हैं अर्थात् 'वसुदेव' का पुत्र 'वासुदेव' तथा 'यज्ञवल्क्य' का पुत्र 'याज्ञवल्क्य' कहलाता है किन्तु लोक में यह आवश्यक नहीं है कि 'वासुदेव' और 'याज्ञवल्क्य' नामधारी व्यक्तियों के जनक क्रमशः 'वसुदेव' और 'यज्ञवल्क्य' नामधारी व्यक्ति हों। पक्षियों से उत्पन्न न होने पर भी किसी मानव शिशु का नाम 'हंसज' रखा जा सकता है।

वस्तुतः न केवल यादृच्छिक लोकव्यवहार में प्रत्युत शास्त्रीय विधानों में भी बहुधा लोक प्रचलित अर्थ को वरीयता देनी पड़ती है। इसीलिए कहा गया है कि–'यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धम् नाकरणीयं नाचरणीयं (सही होते हुए भी यदि लोक विरुद्ध हो तो ऐसा कार्य और आचरण नहीं करना चाहिए)। यहाँ यह भी अवधेय है कि जो लोग 'आस्था प्रणाली' के रूप में 'धर्म के स्थान पर 'सम्प्रदाय' शब्द के प्रयोग के पक्षपाती हैं वे भी वस्तुतः व्यामोह ग्रस्त ही हैं। आज सम्प्रदाय या साम्प्रदायिकता जैसे शब्द 'मत' या 'मताग्रह' को व्यक्त करने हेतु प्रयुक्त होते हैं। यह लोकव्यवहार के अनुरोध से है और उचित भी है किन्तु यह समझना भारी भूल होगी कि परम्परागत रूप से साम्प्रदायिकता का यही अर्थ प्रचलित रहा है। सम्प्रदाय शब्द निन्दावाचक नहीं है। यह तो सम्प्रदान अर्थात् अच्छे प्रकार से देने के अर्थ का व्यंजक है। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है–'सम्प्रदीयते गुरूणा शिष्येभ्यः प्रतिपाद्यते शब्दस्तदर्थ संबंधश्च येन कर्मणा सः' (अच्छे प्रकार दिया जाता है शब्द और शब्दार्थबोध गुरू के द्वारा

शिष्य को जिस कर्म से)।[30] इस प्रकार सम्प्रदाय किसी शास्त्र या तन्त्र का आचार्य द्वारा शिष्य को सम्यक् प्रकार से दिया गया अर्थात् अध्यापित किया गया उपदेश है। इसका मताग्रह के साथ दूर का संबंध भी नहीं है। वस्तुतः साम्प्रदायिकता का मताग्रह के रूप में प्रयोग मुख्यतः संस्कृत के विचक्षण विद्वान् महर्षि दयानन्द और उनके ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' द्वारा हुआ है। 'सम्प्रदाय' का यह आपामरजन प्रसिद्ध अर्थ मूलार्थ के रूढ़ार्थ होने का उत्तम निदर्शन है।

मीमांसा सूत्रकार जैमिनि के अनुसार यद्यपि वेद में रूढ या यदृच्छा शब्दों का प्रयोग नहीं है तथापि कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका आर्य और म्लेच्छ लोग भिन्न–भिन्न अर्थों में व्यवहार करते हैं। अस्तु जिज्ञासा होती है कि आर्य या म्लेच्छ प्रयोग में कौन सा प्रयोग साधु माना जाय। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि सूत्रकार ने यह नहीं कहा है कि म्लेच्छ प्रयोग त्याज्य या असाधु है। उनका कहना है कि शास्त्रनिष्ठ लोगों ने जो अर्थ निश्चित किया हो फिर भले ही वह आर्य प्रयोगानुसार हो या म्लेच्छ प्रयोगानुसार, वही मानना चाहिए। यद्यपि शास्त्रनिष्ठ अर्थात् शिष्ट उन्हें कहते है जिन्हें शब्दों और वेदों की अविच्छिन्न स्मृति हो।[31] इस कथन से यह भ्रम हो सकता है कि आर्य–प्रयोग के अतिरिक्त अन्य प्रयोग की विवक्षा नहीं है किन्तु अगले ही अधिकरण में सूत्रकार इसका निराकरण कर देते हैं। 'म्लेच्छ प्रसिद्धार्थ प्रामाण्याधिकरण' में सूत्र की व्याख्या करते हुए शबरस्वामी लिखते हैं– "अशिष्टों से व्यवहृत अर्थ भी जो शिष्ट जनों से अज्ञात है, प्रमाण होवे, जो अर्थ प्रमाण से अविरुद्ध है, उस ज्ञात होने वाले अर्थ को छोड़ना न्याय्य नहीं है। और जो कहा है–'शिष्टाचार प्रमाण है', वह प्रत्यक्ष प्रमाण से अनवगत अर्थ में जानना चाहिए। और जो कहा है–'शब्दार्थ के विषय में शिष्ट ही प्रयत्नवान होते हैं, इस विषय में कहते हैं–पक्षियों के पोषण और बन्धन में म्लेच्छ विशेष प्रयत्नवान होते हैं और जो कहा–'निगम, निरुक्त, व्याकरण से अर्थ की कल्पना करने पर, इनकी अर्थवत्ता होगी' इनकी वहाँ अर्थवत्ता हो जायेगी जहाँ म्लेच्छों से भी शब्दार्थ अवगत नहीं होता। और भी, निगम आदि से अर्थ की कल्पना करने पर शब्दार्थ अव्यवस्थित होगा। उस अव्यवस्थित अर्थ में अर्थ का निश्चय नहीं होगा" ।[32] इस प्रकरण में शबरस्वामी ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्यों को उद्घाटित किया है। अशिष्टों (म्लेच्छों) द्वारा व्यवहृत अर्थ को भी प्रमाण माना गया है। वस्तुत : इसकी व्यावहारिक उपयोगिता

सुस्पष्ट है। संविधान, विधिशास्त्र (कानून) या प्रशासकीय आदेश, निर्णय, आवेदन प्रतिवेदन आदि सार्वजनीन होते हैं। इनमें प्रयुक्त 'धर्म' शब्द का वही अर्थ ग्राह्य और व्यवहारोपयोगी हो सकता है जिसे आर्य एवं आर्येतर सभी लोग एक ही अर्थ में ग्रहण करते हों। अतः आर्येतर जनों में धर्म की कल्पना नैतिक कर्तव्य के रूप में न होकर 'आस्थाप्रणाली' के रूप में ही होती है और 'धर्म' का यही अर्थ सर्वजनग्राह्य हो सकता है। प्रशासनिक विवरण पत्रों में बहुधा विवरणकर्ता के धर्म के अंकन हेतु एक रिक्ति होती है। विवरणकर्ता के धर्म से अभिप्राय उसकी 'आस्थाप्रणाली' से होता है। इसीलिए यह कहना युक्ततर ही है कि निगम, निरुक्त, व्याकरणादि से अर्थ की कल्पना वहीं उचित है जहाँ म्लेच्छ प्रसिद्ध अर्थ से भी शब्दार्थ अवगत न होता हो। इस समस्त उपक्रम का प्रयोजन यह दर्शाना है कि संविधान, विधिशास्त्र, प्रशासनिक अभिलेखों इत्यादि में प्रयुक्त 'धर्म' शब्द का अर्थ आस्था प्रणाली के रूप में ही करना और समझना न्यायोचित है।

संस्कृत भाषा में उपनिबद्ध धर्मग्रन्थों में अनृत, व्याघात और पुनरुक्ति जैसे दोषों के साथ–साथ अनैतिक एवं अलोकमंगलकारी उपदेशों को दृष्टि में रख कर इन ग्रन्थों के पृष्ठपोषी अनेकविध उपायों से इन दोषों के परिहार की चेष्टा की गई हैं। कुछ लोग आर्ष माने जाने वाले ग्रन्थों की अभिनव व्याख्या प्रस्तुत कर इस समस्या का समाधान करते हैं। इसके साथ–साथ इन ग्रन्थों के बहुत से अंशों के प्रक्षिप्त होने की बात भी स्वीकार की जाती है। कुछ लोग इससे भी बढ़कर यहाँ तक कहने का साहस करते हैं कि इस धर्म में किसी ग्रन्थ–विशेष के प्रति वैसी श्रद्धा कभी नहीं रही जैसी कि 'सामी' धर्मों में प्रायः प्राप्त होती है। यह धर्म तो वस्तुतः जीवन जीने की एक प्रणाली या पद्धति रही है न कि आस्थागत विचारों का समुच्चय। कुछ अन्य लोग इन सबसे भिन्न इस बात के लिए आग्रहवान हैं कि धर्मग्रन्थों में उपदिष्ट सभी विचारों को आस्थागत रूप में उसी प्रकार सत्य स्वीकार किया जाय जैसा कि 'सामी' धर्मों में किया जाता है।

प्रस्तुत प्रसंग में विचार्यमाण धर्म के परिष्कार के लिए उपन्यस्त उपर्युक्त मतवादों की एक–एक कर परीक्षा करने पर ये निःसार प्रतीत होते हैं। जो लोग धर्मग्रन्थों की अभिनव व्याख्या कर इन्हें पूर्ववर्णित आक्षेपों से मुक्त करने के साथ–साथ इन्हें युगानुकूल सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, उनका यह प्रयास इसलिए अकिंचितकर हो जाता है क्योंकि इसे परम्परा का

समर्थन नहीं प्राप्त होता है। धर्मग्रन्थों के निर्माण काल या निकटवर्ती कालक्रम में प्रस्तुत व्याख्या निःसन्देह पर्याप्त परवर्ती काल की व्याख्या की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय माननी होगी। पुनः हिन्दू धर्म में सदैव परम्परा का समधिक गौरव एवं महत्त्व रहा है, ऐसे में किसी सर्वथा अभिनव व्याख्या को मान्यता कहाँ तक दी जा सकती है, यह विचारणीय है। क्या हम धर्म प्रवचन काल के ऋषियों–मुनियों की अपेक्षा धर्म के तत्त्वों को अधिक समझते हैं? मेरे विचार से इसका उत्तर नकारात्मक ही हो सकता है। परम्परागत रूप से वेदों के अन्तर्गत ब्राह्मण ग्रन्थों का समावेश होने पर भी इन्हें मूल मंत्रसंहिताओं का व्याख्यान रूप माना जाता है।[33] इन्हीं ब्राह्मण ग्रन्थों ने अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर वेदमन्त्रों की यजमान–महिषी और अश्वशिश्न के संयोग संबंधी अत्यन्त घृणित व जुगुप्सित व्याख्या की है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि यदि शास्त्र परिष्कार विषयक इन अभिनव व्याख्याओं को मान्यता दे ही दी जाय तो भी यह हिन्दू धर्म के मान्य स्वरूप के रूप में नहीं स्वीकारी जा सकती हैं। वस्तुतः यह समस्त व्यामोह 'धर्म' और 'दर्शन' के पार्थक्य को न समझने के कारण उत्पन्न हुआ है। दर्शन मूलतः सिद्धान्त परक होता है, अस्तु इसके सांगठनिक स्वरूप का होना आवश्यक नहीं है। धर्म एक या कुछ व्यक्तियों द्वारा सैद्धान्तिक रूप से स्वीकृत मान्यताओं का समुच्चय मात्र नहीं होता प्रत्युत उसका एक सांगठनिक स्वरूप भी होता है तथा सैद्धान्तिक पक्ष के साथ–साथ इसका क्रियात्मक पक्ष भी होता है। इस क्रियात्मक पक्ष के अंग के रूप में मान्य कर्मकाण्ड, रूढ़ि या प्रथा का सुदीर्घ एवं सुस्थापित परम्परा द्वारा समर्थन अत्यन्त आवश्यक है। उदाहरण के लिए वर्णव्यवस्था को लिया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति हिन्दू शास्त्रों की अभिनव व्याख्या कर यह सिद्ध करना चाहे कि इस धर्म में मानवमात्र को समान समझा जाता रहा है और यहाँ ऊँच–नीच के लिए कोई स्थान नहीं रहा है तो उसका यह प्रयास हिन्दू धर्म की एक दार्शनिक व्याख्या मात्र होगा न कि हिन्दू धर्म का लोक–व्यवहार्य स्वरूप। यदि मानवमात्र की समानता का सिद्धान्त बहुसंख्यक हिन्दू धर्मावलम्बियों द्वारा सिद्धान्ततः एवं क्रियात्मक रूप से एक सुदीर्घ एवं सुस्थापित परम्परा से समर्थित होता आया हो तब ही वह इस धर्म का आवश्यक अंग समझा जा सकेगा। विधिशास्त्र (कानून) के अनुसार भी सुस्थापित एवं सुदीर्घ परम्परा द्वारा अनुसमर्थित क्रियाकलाप को ही विधिक स्वरूप के रूप में मान्यता प्रदान की जाती है।

इसी प्रकार धर्मशास्त्रों में प्रक्षेप मानने वालों का मत असंगत प्रतीत होता है। परम्परा के प्रति आग्रहवान विद्वज्जन तो प्रक्षेप की सम्भावना मात्र को अस्वीकार करते हैं। यदि निष्पक्ष रूप से विचार किया जाय तो सुदीर्घ शास्त्रीय परम्परा में प्रक्षेपों की सम्भावना अस्वीकार्य नहीं हो सकती है तथापि मूलभूत समस्या तो यह है कि मूल और प्रक्षिप्त के पार्थक्य के निर्धारण हेतु विनिगमक युक्ति क्या होगी? साम्प्रतिक आदर्शों के अनुरूप प्राचीन की व्याख्या न्याय्य नहीं कही जा सकती है। तथ्यात्मक दृष्टि से यह सम्पूर्ण इतिहास का अपलाप है, जो न उचित है और न ही अपेक्षित।

कतिपय आधुनिक विद्वानों का यह मत कि इस धर्म में 'औचित्यप्रणाली' और 'आस्थाप्रणाली' में पारस्परिक स्वातन्त्र्य रहा है और यहाँ किसी धर्मग्रन्थ के प्रति वैसी श्रद्धा कभी नहीं, रही जैसी कि 'सामी' धर्मों में प्राप्त होती है, अविचारितरमणीय है। इस विषय के प्रत्याख्यानार्थ पूर्व में ही पर्याप्त लिखा जा चुका है तथापि प्रसंगोपात्त कुछ विचार अपेक्षित है। भारतीय मेधा का सर्वश्रेष्ठ तार्किक विकास दर्शनशास्त्रों में हुआ है। परम्परागत रूप से भारतीय दर्शन दो विरोधी विचारधाराओं में विभक्त रहे हैं –'आस्तिक' और 'नास्तिक'। इन दोनों विचाराधाराओं के मध्य पार्थक्य का निर्धारण शास्त्र विशेष के प्रति आस्था को लेकर किया जाता है। जो वेदों में आस्थावान हैं वे 'आस्तिक' हैं और जो वेदन्दिक हैं वे 'नास्तिक' हैं। मनु का स्पष्ट कथन है कि ''जो तर्कशास्त्र का आश्रय लेकर वेदों की अवमानना करे उसका बहिष्कार कर देना चाहिए क्योंकि वेदनिन्दक नास्तिक होता है''।[34] आगे कहा गया है कि ''ऐसे व्यक्ति का वाणी मात्र से भी आदर नहीं करना चाहिए'' अर्थात् उससे सम्भाषण भी नहीं करना चाहिए।[35] स्पष्ट है कि यहाँ युक्ति या औचित्य प्रणाली को आस्था प्रणाली और वह भी एक शास्त्र विशेष के प्रति आस्था से नियन्त्रित किया गया है और स्वतन्त्र विचारकों से विचार–विनिमय का भी निषेध किया गया है। ऐसे में यह कहना कहाँ तक न्यायोचित हो सकता है कि इस धर्म में आस्थाप्रणाली और औचित्य प्रणाली को परस्पर स्वतन्त्र रखा गया है। मनुस्मृति के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर भी यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि यहाँ औचित्यप्रणाली आस्था प्रणाली से नियन्त्रित ही रही है।

महाभाष्यकार पतंजलि ने ब्राह्मण और श्रमणों के मध्य 'अहि' और 'नकुल' के समान शाश्वत विरोध माना है।[36] अब विचारणीय है कि यह विरोध 'आस्थाप्रणाली' के कारण है या 'औचित्यप्रणाली' के कारण ?

औचित्य की दृष्टि से ब्राह्मणधर्म और श्रमणधर्म में अत्यधिक साम्य है। बौद्धों के 'पंचशीलों' जैनियों के 'महा/अणु व्रतों' तथा योग दर्शन के 'यमों' में पर्याप्त साम्य है, इसी प्रकार मनूक्त दशलक्षणात्मक धर्म एवं श्रमण परम्परा में प्रतिपादित आचार मीमांसा में पर्याप्त साम्य है। अन्तर है तो 'आस्थाप्रणाली' को लेकर। ब्राह्मण धर्म की 'औचित्यप्रणाली' 'आस्थाप्रणाली' से निगमित एवं नियन्त्रित होती आयी है वहीं श्रमण परम्परा में औचित्य–प्रणाली में ही आस्था व्यक्त की गयी है। एक परम्परा में आस्थागत औचित्य है तो दूसरी में औचित्यमूलक आस्था। यह मन्तव्य तब और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है जब पतंजलि अपने को उत्कट शब्द प्रमाणवादी घोषित करते हैं।[37] इसके उपोद्बलक रूप में इस ऐतिहासिक तथ्य का उल्लेख प्रासंगिक होगा कि इसी पतंजलि के पुरोहितत्व में शुंग सम्राटों ने दो बार अश्वमेधयज्ञ का आयोजन करवाया था। सुतराम यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण और श्रमणों का यह शाश्वत विरोध आस्थागत वैभिन्न्य के कारण ही रहा है।

आप को यह जानकर आश्चर्य होगा कि मीमांसकों ने प्याऊ लगवाना, तालाब खुदवाना जैसे लोकसंग्रह के कार्यों को परोपकार को लिए तो स्वीकार किया है किन्तु धर्म का हेतु नहीं माना है।[38] भट्ट कुमारिल ने बौद्धादि वेदवाह्य मतोक्त वैराग्य, हिंसा–त्याग, सत्यवदन आदि के विषय में विचार करके इन्हें अप्रमाण कहा है।[39] उन्होंने बौद्धोक्त नैतिक नियमों को श्वान के कपाल में रखे दूध के समान त्याज्य माना है। मीमांसकों द्वारा परोपकारादि दृष्ट उपायों को धर्मान्तर्गत न मानना सकारण है। इनके अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान से जिन प्रयोजनवान उपायों को न जाना जा सके उन्हें ज्ञापित कराना ही वेद का वेदत्व है।[40] यतः परोपकारादि कार्यों के फल दृष्ट भी हो सकते हैं और ये अश्रुतपूर्व उपाय के बोधक नहीं हैं, फलतः धर्मान्तर्गत समाविष्ट नहीं किए जा सकते। यह सिद्धान्त सामाजिक–नैतिकता के लोकोत्तर मूल्य का मूलोच्छेद कर देता है। इसके अनुसार सामाजिक नैतिकता का यदि कोई मूल्य हो सकता है तो वह दृष्ट अर्थात् लोकान्तर्वर्ती होगा। अदृष्ट उपायों का बोधक तो मात्र वेद ही हो सकता है। यदि इन उपायों को भी प्रत्यक्ष और अनुमान से जाना जा सके तो वेद का वेदत्व ही क्या रहा जाता है? इसके साथ ही यह भी अवधेय है कि जो विद्वज्जन भारतीय नैतिकता को आदेश स्वरूप वाली नहीं प्रत्युत परार्थानुमान पद्धति के समान वक्ता के विचारों को श्रोता में संक्रान्तकारी मानते हैं उन्हें उपर्युक्त

कथन का सतर्क अन्वीक्षण करना चाहिए। यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि प्रत्यक्ष और अनुमान से जिसका बोध ही न हो सके वही धर्म है और धर्म का अर्थ है–कर्त्तव्याकर्तव्य का बोध अर्थात् नैतिकता। यही नहीं मनु, कौटिल्य आदि धर्मशास्त्रकारों ने राजा को वेदोपदिष्ट विधि विधानों के अनुसार सामाजिक मर्यादा व शासन प्रणाली के प्रवर्तन का आदेश दिया है।[41] अब विचारणीय है कि राजा प्रजाजन को परार्थानुमान की पंचावयव पद्धति से प्रबोधित करता हुआ इतस्ततः भ्रमण तो करेगा नहीं। वह तो दण्डनीति का आश्रय लेकर ही ऐसी मर्यादा बना सकेगा।[42] और यह दण्डनीति कितनी नृशंस रही है इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त है–"राजा ब्राह्मण के साथ एक आसन पर बैठे हुए शूद्र की कमर को तपाए गए लोहे से दगवा कर निकाल दे अथवा उसके नितंबों को कटवा ले।[43] इन प्रमाणों के आधार पर यह कहना कठिन है कि हिन्दू धर्म 'सामी' धर्मों से विशेष भिन्न है।

वेदान्त दर्शन की विचार पद्धति भी शास्त्रास्थानुवर्तिनी ही है। व्यावहारिक जगत् में 'व्यवहारे भाट्ट नयः' का समाघोष इनके यहाँ सर्वथा आदृत है। आर्चाय शंकर ने भी धर्माधर्म के ज्ञान के लिए शास्त्र को ही अन्तिम प्रमाण माना है तथा सपशु याग को विशुद्ध (अहिंसक) अनिन्द्य एवं शिष्टों द्वारा अनुष्ठान योग्य स्वीकार किया है।[44] गम्भीरता से विचार करने पर वेदान्ती मीमांसकों से भी अधिक शास्त्रास्थाप्रवण प्रतीत होते हैं। वेदान्तियों के अनुसार सत्य को तर्क से नहीं जाना जा सकता है क्योंकि एक तर्क को दूसरे बलवत्तर तर्क द्वारा निरस्त किया जा सकता है। अतः तर्क प्रक्रिया अन्तहीन है और इसी कारण अप्रतिष्ठित है।[45] परम तत्त्व का तात्त्विक अवबोध तर्क से नहीं श्रुति से प्राप्य है। मीमांसकों ने तो धर्म अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य के विषय में ही श्रुति को अन्तिम प्रमाण माना था किन्तु वेदान्तियों ने धर्म और तत्त्वमीमांसा दोनों ही विषयों में श्रुति को अन्तिम साहाय्य स्वीकार किया है। अतीन्द्रिय विषयों यथा ईश्वर के अस्तित्व एवं तत्प्रवर्तित विधि–निषेध परक शास्त्रीय व्यवस्था को ये वेदान्तीगण अनुमान या तर्क के आधार पर नहीं अपितु आम्नायानुरोध के आधार पर ही स्वीकार्य मानते हैं।

तर्क शिरोमणि नैयायिकादि भी कर्तव्याकर्तव्य बोध के लिए श्रुति प्रमाण को लौकिक सामाजिक नैतिकता का अतिक्रामी मानते हैं। 'व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास' के अवान्तर भेद 'उपाधिसद्भाव' का प्रसिद्ध उदाहरण है–क्रतु (यज्ञ) में की जाने वाली हिंसा अधर्म का साधन है (प्रतिज्ञा), हिंसा होने के

कारण (हेतु), क्रतुहिंसा से बाहर की जाने वाली हिंसा के समान (उदाहरण)।[46] इस हेतु को सद्हेतु न मानकर हेत्वाभास माना गया है क्योंकि इसमें निषिद्धत्व की उपाधि है। इसका सुगमार्थ यह है कि हिंसामात्र निषिद्ध नहीं है प्रत्युत जो हिंसा निषिद्ध मानी गयी है वही अकरणीय है।[47] क्रत्वन्तर्वतिनी हिंसा साक्षात् आम्नायानुमोदित है, अतः निषिद्ध नहीं प्रत्युत अनिवार्यतः करणीय है। धर्माधर्म के विषय में विचार करते हुए गंगास्नान और यागादि को धर्म तथा ब्रह्महत्यादि की अधर्म माना गया है।[48] स्पष्टतः इन करणीय कर्मों का परिज्ञान शास्त्रानुरोध से ही सम्भव है। अस्तु शास्त्रास्थानुमोदित औचित्य का अस्तित्व यहाँ भी अक्षुण्ण बना रहता है।

यों तो सांख्य, योग दर्शन भी आस्तिक दर्शन ही हैं तथापि इन्होंने एक सीमा तक अपनी औचित्य–प्रणाली को निगमानिर्बन्ध रखा है। इन दर्शनों ने अहिंसा को सर्वाधिक मूल्यवान मानते हुए उसे सत्य से भी श्रेष्ठतर बताया है।[49] इन दर्शनों के अनुसार भी यद्यपि आनुश्रविक कर्म कारणीय हैं तथापि इनमें होने वाली हिंसा भी अहिंसा नहीं प्रत्युत हिंसा ही होती है और फलतः पापप्रद होती है। हिंसा से मुक्त न होने के कारण वैदिक उपाय भी अविशुद्ध नहीं हैं।[50] प्रकारान्तर से इन दर्शनों ने हिंसा परक श्रौत कर्मों की आलोचना भी की है।[51] यही कारण रहा है कि शब्द प्रमाण के प्रबल पृष्ठपोषक वेदान्तियों ने इस दर्शन की कटु आलोचना की है और सम्भवतः इसी कारण यह क्षीणप्रभ हो गया। एक सीमा तक निगमानिर्बन्ध होने के कारण इस दर्शन ने यम, नियम जैसे उदात्त मानवीय मूल्यों को अधिक प्रश्रय दिया और इस अर्थ में यह श्रमण परम्परा के सन्निकटतर है तथापि आस्तिकता का आवरण ग्रहण करने के कारण आस्थापरक विचारों से अपने को सर्वथा मुक्त न कर सका।

यह अवधेय है कि श्रमण परम्परा ने यद्यपि नैतिक मूल्यों को अधिक प्रश्रय प्रदान किया है तथापि यह समझना भारी भूल होगी कि ये धर्म व दर्शन के क्षेत्र में आस्थागत प्रभावों से सर्वथा मुक्त रहे हैं। कालान्तर में जब श्रमण परम्परा ने सांगठनिक धर्म का स्वरूप ग्रहण कर लिया तो इनमें भी आस्थापरक प्रवृत्तियों का प्राचुर्य स्पष्ट ही दिखाई पड़ता है।

चार्वाक दर्शन का जो प्रचलित विवरण प्राप्त होता है उसके अनुसार इस दर्शन ने पारलौकिक आस्था एवं सामाजिक औचित्य दोनों के उत्सादन का उत्कट उपक्रम किया है तो भी यह अवधेय है कि इसका जो वर्णन प्राप्त

होता है वह इसके विरोधियों द्वारा प्राप्त विवरणों पर ही आधृत है। किन्तु इस पर भी सूक्ष्मेक्षिका से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि मानो इसके द्वारा आस्था का खण्डन सामाजिक नैतिकता को प्रश्रय देने के लिए ही किया गया है। अग्निहोत्र, तीन वेद, त्रिदण्ड धारण व भस्मलेपन को इसने बुद्धि और पौरुष से हीन लोगों की जीविका का साधन बताया है।[52] जो दर्शन बुद्धि और पौरुष की महत्ता का ख्यापन करने वाला हो वह सामाजिक नैतिकता का विरोधी कैसे हो सकता है और ऋण लेकर घृत पीने का अनुमोदन कैसे कर सकता है, यह विचारणीय है। चार्वाक के अनुसार "मांस खाने का विधान करने वाला वेदभाग राक्षसों का बनाया है"।[53] स्पष्ट है कि यह दर्शन अहिंसा और शाकाहार का समर्थक है। अश्वमेध यज्ञ में यजमान महिषी और अश्वशिश्न के संयोग का जो विरोध चार्वाक द्वारा किया गया है[54] वह तो सामाजिक जीवन जीने वाले प्रत्येक सभ्य मनुष्य का कर्तव्य है।

शैव वैष्णवादि सम्प्रदायों में तो आस्थागत विचारों का और अधिक प्राचुर्य देखा जाता है और इनको लेकर इनके मध्य पर्याप्त पारस्परिक कटुता भी रही है।[55] इस प्रकार के संदर्भों को देखकर यह कहा जा सकता है कि हिन्दू धर्म भी शास्त्र प्रमाण की दृष्टि से 'सामी' धर्मों से विशेष भिन्न नहीं है। यहूदी धर्म के प्राचीन प्रवचन (Old testament) को अस्वीकार कर ईसाई धर्म ने नवीन प्रवचन (New testament) को मान्यता दी तथा बहुत से यहूदी धर्मावलम्बी भी कालान्तर में ईसाई बने। इसी प्रकार पुराने पैगम्बरों के वचनों को कालातीत मानकर नए पैगम्बर 'मुहम्मद' ने कुरान के रूप में नए शास्त्र का प्रवर्तन किया। जिस प्रकार 'सामी' धर्म के अनुयायियों में अपने–अपने धर्म के प्रति निष्ठा प्राप्त होती है उसी प्रकार हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में स्व–स्व सम्प्रदायानुसारि शास्त्र के प्रति आस्थामूलक निष्ठा रही है। हाँ, यह अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि 'सामी' धर्मों में अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति जैसी कट्टरता और अनुदारता प्राप्त होती है तथा अन्य धर्मों के साथ उनके रक्तरंजित संघर्ष का जो इतिहास रहा है वैसा हिन्दू धर्म में अवश्य नहीं प्राप्त होता है। निःसन्देह यह इस धर्म का एक महान सद्गुण है और सम्भवतः इसकी जीवन्तता का एक प्रमुख कारण भी।

हिन्दुत्व के समर्थन में अन्तिम प्रयास उन लोगों का है जो 'सामी' धर्मग्रन्थों के समान हिन्दू धर्मग्रन्थों एवं तज्जन्य विचारों को शासकीय हस्तक्षेप से मुक्त रखना चाहते हैं अथवा दूसरे शब्दों में 'सामी' धर्मों के समान

ही हिन्दुओं के लिए भी उनके धर्मग्रन्थों में वर्णित विधि एवं शासन व्यवस्था के प्रवर्तन के पक्षपाती हैं। इस विचारधारा के प्रबल पृष्ठपोषकों में सनातन हिन्दू धर्म के उन्नायक स्वामी करपात्री जी का नाम अग्रगण्य है। स्वामी जी ने इस विषय में गीता को प्रमाण रूप से उद्‌धृत करते हुए कहा है कि "जो शास्त्र का मार्ग छोड़कर मनमाने ढंग से बरतता है वह न तो सिद्धि पाता है, न सुख और न परमगति। इसलिए क्या कर्तव्य है एवं क्या अकर्तव्य है, इसका निश्चय शास्त्र ही कर सकता है, वही प्रमाण है, उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का ही अनुसरण करना चाहिए।"[56] यहीं स्वामी जी आगे कहते हैं "शास्त्र के अनुसार कन्या की शादी रजस्वला होने के पूर्व करनी चाहिए किन्तु कानून इसके विरूद्ध है। लड़की की आयु कम से कम 18 वर्ष वर्ष होनी चाहिए। यह कानून हमारे धर्म में हस्तक्षेप कर रहा है। इसके लाभ को हम युक्तियों से खण्डित कर सकते हैं। इसी प्रकार हमारी मन्दिरों की भी मर्यादाएँ हैं, मस्जिदों की मर्यादाएँ हैं। कोई कहे कि मस्जिद में शूकर लेकर जाएंगे। यह पागलपन है– ऐसे व्यक्ति को थप्पड़ लगा कर बाहर कर देना चाहिए।"[57] स्वामी जी के ये विचार कितने प्रतिगामी हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। यदि कोई रूढ़ि, प्रथा या परम्परा मानवीय स्वास्थ्य के साथ खिलवाड़ करने वाली हो और साथ ही उन पर प्रायोजित हो जो अवयस्क होने के कारण अपने मानवाधिकारों की समझ एवं संरक्षण से अनभिज्ञ हों तो क्या शासन का यह दायित्व नहीं बनता कि वह राजाज्ञा प्रस्तुत कर इन कुप्रथाओं का निवारण करे। क्या धर्मग्रन्थों के आधार इन प्रथाओं का अनुमोदन करना नैतिक दृष्टि से उचित होगा? जिन शास्त्रों का पृष्ठपोषण किया जा रहा है उनके अनुसार "दशवें वर्ष के बाद कन्या की रजस्वला संज्ञा हो जाती है तथा रजस्वला को अविवाहित देखकर माता, पिता और ज्येष्ठभ्राता तीनों नरकगामी होते हैं।"[58] यदि इस धर्मादेश को व्यवहार्य मान लिया जाय हो जनसंख्या वृद्धि की क्या दशा होगी यह सहजतः कल्पनीय है। वस्तुतः न केवल आज के औषधि विज्ञान (Medical Science) प्रत्युत प्राचीन भिषगाचार्य सुश्रुत के अनुसार भी "सोलह वर्ष से न्यूनवया वाली स्त्री में गर्भाधान नहीं करना चाहिए क्यों कि वह कुक्षिस्थ हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता है अथवा उत्पन्न हो तो फिर चिरकाल तक जीवित नहीं रहता और यदि जीवे तो दुर्बलेन्द्रिय होता है। इस कारण से अति बाल्यावस्थावाली स्त्री में गर्भस्थापन न करे" ।[59] धर्म में यदि आस्था–प्रणाली का प्रकर्ष न होता तो सामाजिक नैतिकता का अतिक्रमण करने वाले ये विधान कभी स्वीकार्य नहीं हो सकते थे !

स्वामी जी शूद्रों के मन्दिर–प्रवेश–निषेध के प्रबल पक्षपाती थे। उनके अनुसार जिस प्रकार शूकर के मस्जिद प्रवेश को उचित नहीं ठहराया जा सकता उसी प्रकार शूद्रों का मन्दिर प्रवेश वर्जित है। क्या शूद्र की शूकर से तुलना करना–न्याय्य है। शूकर तो स्वभावतः अभक्ष्य भोजी होता है किन्तु शूद्रों में तो विदुर जैसे तत्त्वज्ञानी और रविदास जैसे सन्त भी हुए हैं। प्रायः पाया जाता है कि ग्राम देवताओं को अर्पित नैवेद्य को उदरस्थ करने हेतु श्वान, मार्जार जैसे जीव देव विग्रहों पर विचरण करते रहते हैं। इनमें से श्वान प्रायः शूकर के समान अभक्ष्यभोजी ही होते हैं। क्या शूद्र श्वान से भी अधिक अपवित्र हैं? फिर हिन्दू देवताओं ने तो स्वयं 'वराह' का अवतार धारण किया है। ''करपात्री महाराज ने काशी के जिस वर्तमान विश्वनाथ मंदिर को अपवित्र करार दिया है, उसे अहिल्याबाई ने 1785 ई0 के आसपास बनवायी थीं। शुरू से ही ईसाइयों के लिए इस मन्दिर के द्वारा खुले रहे हैं। 1824 में विशप हेबर ने इस मन्दिर के बारे में लिखा था : 'पुजारी मुझें मंदिर दिखलाने में उत्सुक दीख पड़े और दक्षिणा की आशा से अपने को मुझ जैसा ही पादरी कहते थे।' विदेशी (म्लेच्छों) के लिए इस मन्दिर के दरवाजे खुले थे, किन्तु अपने बहुसंख्यक हिन्दू बांधवों (शूद्रों) के लिए ये दरवाजे बन्द थे। और जब इनके लिए हमारे समय में ये दरवाजे खुले, तो करपात्री .... ने इस मन्दिर को ही अपवित्र घोषित कर दिया।''[60] विचारणीय है कि ईसाई पादरी जिनके लिए गोमांस भी अभक्ष्य नहीं है, यदि मंदिर में प्रवेश पा सकते हैं तो शूद्र क्या उनसे भी गर्हित हैं? और यदि हैं तो क्यों न वे इस धर्म का परित्याग कर अन्य धर्मों के वरण हेतु उन्मुख होवें।

स्वामी करपात्री जी ने काशी के उच्चकोटि के विद्वानों के साहाय्य से दो खण्डों में विभक्त 'वेदार्थ पारिजात' नामक विपुलकाय ग्रन्थ का प्रणयन करवाया। इस ग्रन्थ के दूसरे भाग के पृष्ठ सं. 1824 से पृष्ठ सं. 2141 तक 318 पृष्ठ जिन बातों को प्रमाणित करने में व्यय किए हैं, उनमें से कतिपय इस प्रकार हैं –

(1) यज्ञों में पशु का होम शास्त्रानुमोदित है। यज्ञ में पशु को मारना इसलिए हिंसा नहीं है कि यज्ञ में मारे गए पशु का उससे उपकार होता है। वह निकृष्ट योनि से छुटकारा पाकर सुवर्णमय शरीर को धारणकर स्वर्गलोक को प्राप्त करता है।

(2) अश्वमेध में यजमान–महिषी का अश्वशिश्न से संयोग और राजा की उपपत्नियों से ऋत्विजों का अश्लील भाषण वेदादिशास्त्र विहित है। शास्त्र विहित होने से ये कर्तव्य हैं।

(3) स्त्री और शूद्र को वेदाध्ययन का अनधिकार, बाल–विवाह, दहेज लेना और देना, विधवा स्त्रियों का सती होना आदि सभी बातें शास्त्रानुमोदित हैं।

उपर्युक्त सभी बातों का विधान आस्था–प्रणाली के औचित्य प्रणाली पर अधिप्रभावी होने के ज्वलन्त प्रमाण हैं। सुतराम यह स्पष्ट होता है हिन्दू धर्म में भी आस्था प्रणाली का प्राधान्य है भले ही उसका स्तर या प्रकार कुछ भी क्यों न हो। यहाँ पर एक प्रश्न अनायास उपस्थापित किया जा सकता है कि जब इस देश में अन्य धर्मों के लिए उनके धर्मग्रन्थों के आधार पर सम्प्रदायनिष्ठ कानूनों (Personal laws) को विधिमान्य किया गया है तो हिन्दुओं के धर्मशास्त्रों का अपलाप कैसे उचित माना जा सकता है? निःसन्देह यह एक उचित प्रश्न है। किन्तु इस समस्या का समाधान एक उदाहरण के माध्यम से देना उचित होगा। यदि परीक्षा भवन में एक अध्यापक किसी परीक्षार्थी को अनुचित तरीके से सहायता प्रदान करता है तो उसका यह कार्य अवैधानिक माना जायेगा। तो क्या यह मान लिया जाये कि यदि वह सभी परीक्षार्थियों को अनुचित तरीके से सहायता प्रदान करे तो उसका यह कार्य वैधानिक हो जायेगा? इसका उत्तर तो नकारात्मक ही हो सकता है। वस्तुतः वैधानिक तो यह होगा कि किसी भी परीक्षार्थी को अनुचित तरीके से सहायता प्रदान न की जाय। निहितार्थ यह है कि सभी धर्मों के सम्प्रदायनिष्ठ कानूनों के स्थान पर धर्मनिरपेक्ष कानूनों के प्रवर्तन को प्रस्तावित किया जाय।

धर्मनिरपेक्षता के विरोध में इस देश के कतिपय हिन्दुत्ववादी संगठन विशेष मुखर हैं। हिन्दुत्व या हिन्दूधर्म की सर्वमान्य परिभाषा का यद्यपि अभी तक निर्वचन सम्भव नहीं हो पाया है तो भी इन पंक्तियों के लेखक ने 'संस्कृत भाषा में उपनिबद्ध धर्मशास्त्रों में आस्था रखने वालों को' हिन्दुत्ववादी या हिन्दू धर्मानुयायियों के रूप में मान्यता दी है। निःसन्देह यह 'हिन्दुत्व' का 'उपलक्षण' ही है न कि अशेषनिःशेषकारी लक्षण, तो भी यह अत्यन्त प्रमुख लक्षण तो अवश्य है। इस लक्षण के स्वीकरण का एक प्रमुख कारण यह है कि पूर्वोक्त धर्मग्रन्थों को आप्त मानने वाले ही हिन्दुत्व के प्रबल आग्रही हैं

तथा इसके महत्त्व के ख्यापनार्थ इन्हीं ग्रन्थों के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। अस्तु 'आम्रवनन्याय' से यह लक्षण संगत ही है। इसके अतिरिक्त जो हिन्दू इन धर्मग्रन्थों को प्रामाणिक नहीं मानते हैं वे भी न्यूनाधिक रूप में इनमें वर्णित सिद्धातों, मिथकों प्रतीकों या बिम्बों को ग्रहण कर स्वसम्प्रदाय की प्रतिष्ठा करते हैं। किन्तु इस लघु निबन्ध से यह तथ्य विस्पष्ट हो जाता है कि 'हिन्दू धर्म' अनेकविध उदात्त मानवीय मूल्यों से अलंकृत होने पर भी आस्थामूलक तत्त्वों से सर्वथा निःशेष नहीं है। अतः धर्मनिरपेक्षता का स्वीकरण ही राष्ट्र, समाज व व्यक्ति के उन्नयन का युक्ततर उपाय होगा।

दर्शन विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर-470002 (म.प्र.)

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. *WE, THE PEOPLE OF INDIA, having solemnly resolved to constitute India into a SOVEREIGN SOCIALIST SECULAR DEMOCRATIC REPUBLIC ... (Preamble, Indian Constitution)*
2. *India as a secular state - D.E. Smith, Page No-4*
3. *धारणद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजा।*
   यत्स्यात्धारण संयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।।– महाभारत कर्णपर्व (69–58)
4. *धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।*
   धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।–मनु0 (6–92)
5. *श्रीमद्भगवद्गीता (18–1,2,3)*
6. *भट्ट कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक (1–3–8) तथा आचार्य शंकर ने 'स्मृतेश्च'(ब्र.सू (1–2–6)),के भाष्य में मनु की प्रशंसा में 'यद्वै किंच मनुरवदत् तद् भेषजम्' (ताण्ड्य ब्राह्मण (23–16–7)), को उद्धृत किया है।*
7. *(i) आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च–मनु0 (1–108)*
   (ii) श्रुति प्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै – मनु0 (2–8)
   (iii) श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्ति मानवाः।
   इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम।। मनु0 (2–9)
8. *(i) धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ।। मनु0 (2–13)*
   (ii) वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम– मुन0 (2–6)
   (iii) श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
   ते सर्वाथेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ।।–मनु0 (2–10)
   (iv) यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
   स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।। – मनु0 (2–7)

9. यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञस्य भूत्य सर्वस्य तस्याद्यज्ञेवधोऽवधः।।–मनु0 (5–39)
10. एष्वर्थेषु पशून्हिंसन्वेदतत्त्वार्थविद्द्विजः।
आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमा गतिम।।–मनु0 (5–42)
11. यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः।
अतोऽन्यथा प्रवृत्ति राक्षसो विधिरूच्यते।।–मनु0 (5–31)
12. नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः।
स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम।।–मनु0 (5–35)
13. या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्वभौ।।–मनु0 (5–44)
14. भारतीय दर्शन का इतिहास भाग–4 (डॉ0 सुरेन्द्र नाथ दासगुप्त), पृष्ठ–7
15. श्येनेनाऽभिचरन् यजेत्–षड्विंश ब्रा0 (3–8)
16. कोऽनर्थ ? यः प्रत्यवायाय, 'श्येनो वज्रः इषु' इत्येवमादिः। तत्र, अनर्थो धर्म उक्तो मा भूदिति अर्थग्रहणम्। कथं पुनरसावनर्थः ? हिंसा हि सा। हिंसा च प्रतिषिद्धेति। कथं पुनरनर्थः कर्तव्यतोपदिश्यते ? उच्यते, नैव श्येनादयः कर्त्तव्या विज्ञायन्ते। यो हि हिंसितुमिच्छेत, तेषामभ्युपाय इति हि तेषामुपदेशः।–मीमांसा शाबर भाष्य (1–1–2)
17. श्लोकवार्तिक (204–274)
18. श्येनादीनां तु न साक्षान्नाप्युपचारान्नापि तत्फलस्यानर्थत्वमिति तस्यानर्थप्रतिपादनपर 'श्येनो वज्र इषुः' इत्यादिभाष्यमुपेक्षणीयम। – श्लोकवार्तिक (229) की टीका
19. तदुक्तम्– गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते।।
– श्लोकवार्तिक (229) की उम्बेकीय टीका
20. शुक्ल यजुर्वेद का 30वाँ और 31वाँ अध्याय पुरूषमेध में विनियुक्त है।
21. शतपथ ब्राह्मण काण्ड 13, अध्याय 5, ब्राह्मण प्रथम में शुक्ल यजुः अध्याय 23 के मन्त्र संख्या 19 से 31 तक का विनियोग।
22. परम्परा और परिवर्तन (श्यामाचरण दुबे), पृष्ठ सं.–62
23. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग–2 (डॉ0 सुरेन्द्र नाथ दासगुप्त), पृष्ठ–434
24. लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि पदानि तानि सति संभवे तदर्थान्येव सूत्रेष्वित्यवगन्तव्यम् नाध्याहारादिभिरेषां परिकल्पनीयोऽर्थः परिभाषितव्यो वा। – मीमांसा शाबरभाष्य का उपोद्घात
25. अविशिष्टस्तु लोके प्रयुज्यमानानां वेदे च पदानामर्थः। स यथैव लोके विवक्षितस्तथैव वेदेऽपि भवितुमर्हति–मीमांसा शाबर भाष्य (1–2–40)
26. दर्शन दिग्दर्शन (राहुल सांकृत्यायन), पृष्ठ–520
27. कृतप्राणाशकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभंगदोषन्।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभंगमिच्छन्नहो महासाहसिकः परस्ते।। 18।।
हेमचन्द्र कृत आयोगव्यवच्छेद कारिका
28. स्त्रियं पुरूषं वाभिह्य बध्नतो बन्धयतो बन्ध वा मोक्षयतः पंचशतावरः सहस्त्रपर उत्तमसाहस–दण्ड इत्याचार्याः– कौटिलीय अर्थशास्त्र, अध्याय 17, साहसकर्म

29. आदित्यं पश्य देवानाम्प्रिय– मीमांसा शाबर भाष्य (1–1–15)
30. तुल्यं च साम्प्रदायिकम– मीमांसा सूत्र (1–2–8) का शाबर भाष्य एवं पं. युधिष्ठिर मीमांसक कृत विवरण
31. कः पुनरत्र निश्चयः ? यः शास्त्रस्थानां स शब्दार्थः। के शास्त्रस्थाः शिष्टाः । तेषामविच्छिन्ना स्मृतिः शब्देषु वेदेषु च। मीमांसा शाबर भाष्य (1–3–9)
32. चोदितमशिष्टैरपि शिष्टानवगतं प्रतीयेत, यत् प्रमाणेनाविरुद्धं तदवगम्यमानं नन्याय्यं त्यक्तुम्। यत्तु शिष्टाचारः प्रमाणमिति, तत् प्रत्यक्षानवगतेऽर्थे। यत्त्वभियुक्ताः शब्दार्थेषु शिष्टा इति, तत्रोच्यते– अभियुक्ततराः पक्षिणां पोषणे बन्धने चम्लेच्छाः। यत्तु निगम निरुक्त व्याकरणानाम् अर्थवत्तेति, तत्रैषामर्थवत्ता भविष्यति न यत्र म्लेच्छैरप्यवगत शब्दार्थः अपि च, निगमाऽदिभिरर्थे कल्प्यमाने अव्यवस्थितः शब्दार्थो भवेत।– मीमांसा शाबर भाष्य (1–3–10)
33. ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वान्मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः– सायणाचार्य कृत तैत्तिरीय संहिता भाष्य का उपोद्घात
34. योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः।। – मनु0 (2–21)
35. हैतुकान बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत– मनु0 (4–30)
36. येषांच विरोध शाश्वतिकः – अष्टा0 (2–4–9) के भाष्य में पतंजलि प्रदत्त उदाहरण – श्रमण–ब्राह्मणम्
37. (i) शब्दप्रमाणका वयम्। यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्
पातंजल महाभाष्य (चारुदेव शास्त्री), प्रथम आह्निक, पृष्ठ – 38
(ii) रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्–उपरिवत्, पृष्ठ–4
(iii) ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति–उपरिवत, पृष्ठ,6
38. प्रपास्तडागानि च परोपकाराय न धर्माय–मीमांसा शाबर भाष्य (1–3–2)
39. तन्त्रवार्तिक (1–3–5 व 6)
40. प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एवं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता।।
– सायणाचार्य कृत तैत्तिरीय संहिता भाष्य का उपोद्घात
41. (i) ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः।
त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिश्ठेत्तैषां च शासने।। – मनु0 (7–37)
(ii) व्यवस्थितआर्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति।। – अर्थशास्त्र (1–3–17)
(iii) मज्जेत त्रयी दण्डनीतौ हतायाम्– महा0 शान्ति0 (63–28)
42. स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः।–मनु0 (7–17)
43. सहासनभभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः
कट्यां कृतांको निर्वास्य स्फिचं वास्यावकर्तयेत– मनु0 (8–281)
44. अयं धर्मोऽयमधर्म इति शास्त्रमेव विज्ञाने कारणम्, अतीन्द्रियत्वात्वयोः अनियतदेशकालनिमित्तत्वाच्च–यस्मिन्देशे काले निमित्ते च यो

धर्मोऽनुष्ठीयते स एवं देशकालनिमित्तान्तरेष्वधर्मो भवति, तेन शास्त्रादृते धर्माधर्म विषयं विज्ञानं न कस्यचिदस्ति। शास्त्राच्च हिंसानुग्रहाद्यात्मको ज्योतिष्टोमो धर्म इत्यवधारितः, स कथमशुद्ध इति शक्यते वक्तुम? ननु 'न हिंस्यात्सर्वभूतानि' इति शास्त्रमेव हिंसामधर्म इत्यवगमयति। बाढम उत्सर्गस्तु सः। अपवादः– 'अग्निषोमीयं पशुभालमेत' इति। उत्सर्गापवादयोश्च यवस्थितविषयत्वम्। तस्माद्विशुद्धं कर्म वैदिकम, शिष्टैरनुष्ठीयमानत्वादनिन्द्यमानत्वाच्च ब्र0सू0शां0भा0 (3–1–25)

45. इतश्च नागमगम्येऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यम्। यस्मान्निरागमाः पुरूषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्काः अप्रतिष्ठिता भवन्ति। उत्प्रेक्षाया निरंकुशत्वात्– ब्र0सू0शां0भा0 (2–1–11)
यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्येरन्यथैवोपपाद्यते।।– उपर्युक्त पर भामती

46. क्रत्वन्तर्वतिनी हिंसा अधर्मसाधनं, हिंसात्वात्, क्रतुबाह्यहिंसावत्
– तर्कभाषा (डॉ0 सुरेन्द्र देव शास्त्री) अनुमान खण्ड (हेत्वाभास) पृष्ठ–180

47. नहि यत्र यत्र हिंसात्वं तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वं, यज्ञीयपशुहिंसाया निषिद्धत्वाभावात्– उपरिवत, पृष्ठ –180–181

48. धर्माधर्मावदृष्टं स्याद्धर्मः स्वर्गादिसाधनम्।। 161 ।।
गंगास्नानादियागादिव्यापारः स तु कीर्तितः।।162।।
– कारिकावली

49. एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय। यदि चैवमपि अभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यात्, न सत्यं भवेतः पापमेव भवेत्तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टं तमः प्राप्नुयात् तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात् – योगदर्शन– व्यासभाष्य (2–30)

50. दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः – सांख्याकारिका (2)

51. वृक्षान् छित्वा पशून हत्वा कृत्वा रूधिरकर्दमम्।
यज्ञैश्चेद्गम्यते स्वर्गो नरकः केन गम्येत।।–सांख्यकारिका–माठर वृत्ति (2)

52. अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धि पौरूषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः।।– सर्वदर्शन संग्रह–चार्वाक दर्शन पृष्ठ सं.–5

53. मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम्– सर्वदर्शनसंग्रह – चार्वाक दर्शन (11)

54. अश्वस्यात्र हि शिश्नन्तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम्।
भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्तितम्। – उपरिवत'' (10)

55. (i) किमत्रबहुनोक्तेन ब्राह्मणा येऽप्य वैष्णवाः।
न स्पृष्ट्वा न वक्तव्या न दृष्टव्या कदाचन।।13।।
– पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय 235

(ii) तत्र विष्णुश्छली दोषी ह्यविवेकी विशेषतः।
बलिर्येन पुरा बद्धश्छलमाश्रित्य पापतः ।।18।।
– शिवपुराण, रूद्र संहिता, कुमारखण्ड, अध्याय 9

56. यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम।।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्त कर्म कर्तुमिहार्हसि –गीता (16–23, 24)
समेकित अद्वैत विमर्श में संकलित लेख– स्वामी करपात्री जी के अनुसार धार्मिक स्वतन्त्रता का स्वरूप (पृष्ठ सं. 340) में उद्धृत
57. उपरिवत, पृष्ठ सं. 345
58. अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी।
दशवर्षा भवेत, कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला।।6।।
माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्।।8।।
– पाराशर स्मृति, अध्याय 7
59. ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पंचविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते।।47।।
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत।।48।।
– सुश्रुत, शारीरस्थान, अध्याय 10
60. इतिहास संस्कृति और सांप्रदायिकता (गुणाकर मुले), पृष्ठ सं. – 76

ISSN 0974 0053